बेकन-विचाररत्नावली.

अर्थात्

पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी

कृत

लॉर्ड बेकनके अँगरेजी निबन्धों का

भाषानुवाद।

जिसको

खेमराज श्रीकृष्णदासने

बंबई

निज "श्रीवेङ्कटेश्वर" (स्टीम्) यन्त्रालयमें

मुद्रितकर प्रसिद्ध किया।

संवत् १९५८, सन् १९०१ ई०

BACON-VICHAR-RATNA

BEING

A HINDI TRANSLATION

OF

LORD BACON'S ESSAYS

BY

Pandit MAHAVIR PRASAD DWIVEDI

AND

PUBLISHED BY

Khemraj Shrikrishnadas

AT HIS

SHRI VENKATESHWAR PRESS

BOMBAY.

1901

भूमिका ।

लार्ड बेकन का जन्म, लण्डन नगर में, २२ जनवरी सन् १५६१ ई० को हुआ। १२ वर्षके वयमें बेकनने ट्रीनिटी कालेज में प्रवेश किया। वहां वह थोड़ेही दिन रह सका; उसको उस समय की शिक्षण-पद्धति पसन्द नही आई। कालेज छोड़ने पर बेकन ने फ्रांस, इटली, इत्यादि देशोंमें पर्य्यटन करनेके लिए प्रस्थान किया और कई वर्षतक वहां घूमता रहा। बेकन विदेशहींमें था जब उसको उसके पिताके मरने का समाचार मिला। इस समाचार को सुनकर वह इङ्गलैण्ड को लौट आया।

स्वदेशमें आकर बेकन ने कानून का अभ्यास किया और कुछ दिन तक वह विकालत करता रहा। परन्तु २६ वर्षके वयमें विकालत छोड़कर वह सरकारी नौकरी करने लगा। सरकारी नौकरी उसको यहांतक फलप्रद हुई कि सन् १६१२ ई० में वह मुख्य न्यायाधीशके पदपर नियुक्त किया गया। जिस समय बेकन इस पदपर था, उस समय, उसको उत्कोच लेने का अपराध लगाया गया, जिसे उसने स्वयं स्वीकारभी करलिया। इस लिए उसको दंड मिला; परन्तु राजाकी उसपर विशेष कृपाथी, अतएव पीछे से उसका अपराध क्षमा कर दियागया। बेकनकी अलौकिक विद्वत्तामें यह एक धब्बा लगगया है। इससे यह बात सिद्ध होती है, कि विद्वान् भी कभी कभी नीतिपराङ्मुख होजाते हैं।

बेकनकी माता एक विदुषी स्त्रीथी। उसके संसर्गसे बेकन को लड़कपनहींसे विद्याकी विशेष अभिरुचि होगई थी। बेकनकी विद्वत्ता अद्वितीयथी। दर्शनशास्त्र की ओर उसकी विशेष प्रवृत्ति थी। तत्त्वज्ञानसम्बन्धी विचारोंने, इस समय अंगरेजोंमे

जो रूप धारण किया है, वह बेकनहीकी विशाल प्रतिभाका फल है। "इन्डक्टिव फिलासफी" का अङ्कुर यदि बेकन न जमाता तो उस विज्ञानको एतादृश रूपान्तर कदापि न प्राप्त होता। बेकनने विज्ञान सम्बन्धी कई उत्तमोत्तम ग्रन्थ लिखे हैं। उसकी मृत्यु सन् १६२८ ई० में हुई।

अपने वयके ३७ वे वर्षमें बेकनने प्रथमही प्रथम अपने 'निबन्ध' प्रकाशित किए। ये निबन्ध लोगोंको इतने अच्छे लगे कि, बेकनके जीवन कालहीमें इनका अनुवाद लैटिन, फ्रेंच, इटालियन इत्यादि भाषाओंमें होगया। अंगरेज विद्वान् इन निबन्धोंको बहुत आदरदृष्टिसे देखते हैं और बेकनके कथनका समय समयपर, वार्त्तालाप करनेमें, दृष्टान्त दिया करते हैं। इन निबन्धोंकी उपयोगिता और श्रेष्ठताका अनुमान इतनेहीसे करना चाहिए कि ये इलाहाबादयूनीवरसिटीके यम० ए० कोर्समें हैं।

बेकनको जैसे जैसे विचार सूझते गए हैं, वैसेही वैसे वह लिखता गया है। प्रत्येक विषयका, एकहीसाथ, साद्यन्त विवेचन उसने नहीं किया। इसीसे इन निबन्धोंके आरम्भ और समाप्तिमें पूरी पूरी एकसूत्रता और समता नहीं है। बेकनके विचार बड़े गहन हैं। उसके निबन्ध पढ़नेसे, इस बातका अनुभव पद पद पर होता है।

बेकनने सब ५८ निबन्ध लिखे हैं; उनमेंसे केवल ३६ का हमने अनुवाद किया है; शेष २२ निबन्धोंका विषय बहुशः ऐसा है जो एतद्देशीयजनोंको तादृश रोचक नहीं है, इसी लिए हमने उनको छोड़ दिया है। ये निबन्ध जिस भाषामें हैं वह कुछ कुछ प्राचीन अंगरेजी भाषासे मिलती है, अतएव बेकनका आशय समझनेमें कठिनाई पड़ती है। फिर, उसके लिखनेकी

प्रणाली ऐसी टेढ़ी और विषय विवेचना ऐसी गम्भीर है, कि अंगरेजीका परिमित ज्ञान रखनेवाले हम ऐसोंके लिए, उसके लेखोंका अनुवाद करना साहसका काम है । तथापि, जबतक अंगरेज़ीका पारदर्शी कोई विद्वान् इस कामको योग्यतासे नहीं सम्पादन करता तबतक, अनेक त्रुटियोंके रहते भी, हमने इस अनुवादको सर्व साधारणके सम्मुख उपस्थित करनेमें कोई हानि नहीं समझी ।

अंगरेजी शब्दोंके स्थानमें हिन्दी शब्दमात्र न लिखकर, बेकन के भावको हमने मनमाने शब्दोंमें व्यक्त करनेका प्रयत्न किया है । यहां तक कि किसी किसी विषयके नामका भी हमने अक्षरशः भाषान्तर नहीं किया । उदाहरणार्थः—Of Parents and Children. का अनुवाद "माता पिता और सन्तान" न करके केवल "सन्तान" ही हमने किया है, क्योंकि इस निबन्ध में मुख्यतया सन्तानही का वर्णन है; माता पिता का सम्बन्ध गौणहै । किसी किसी स्थलका अनुवाद, अनुपयोगी समझकर हमने कियाही नहीं । जहां कहीं ऐसा हुआ है वहां हमने *** एतादृश चिह्न दे दिए हैं । ऐतिहासिक नामोंका (जहांतक हमको पतालगाहै वहांतक) संक्षिप्त विवरण फुटनोटसमें लिखकर, पुस्तकके अन्तमें, हमने ऐसे नामोंका एक सूचीपत्रभी जोड़ दिया है । एक बात हमने औरभी की है वह यह है कि, प्राचीन संस्कृत ग्रन्थोंसे एक एक और कहीं कहीं दो दो श्लोक, प्रत्येक निबन्ध के शिरोभागमें उद्धृत करके, निबन्ध और श्लोकोंकी एक वाक्यता हमने दिखलाई है ।

झांसी,
२३ आक्टोबर १८९९ ई०

महावीरप्रसाद द्विवेदी ।

सूची।

इति।

बेकन-विचाररत्नावली।

सत्य १.

सत्यमेकाक्षरं ब्रह्म सत्यमेकाक्षरं तपः।
सत्यमेकाक्षरो यज्ञः सत्यमेकाक्षरं श्रुतम् ॥

महाभरात।

"सत्य कहते किसे है"? इसप्रकार पायलेटने विनोदसे प्रश्न किया, परन्तु उत्तर मिलनेके पहिलेही वह उठ खड़ा हुआ और चल दिया। ऐसेभी बहुतसे मनुष्य होते हैं—यह सत्य है। उनको किसी बातपर विश्वास नहीं आता, भ्रमिष्ठकी भाँति चित्तवृत्तिको चारों ओर चक्कर देनाही उन्हें अच्छा लगता है। किसीभी मतको ग्रहण करके उसपर स्थिर होना, पैरमें बेडी पड़ने के समान उन्हें कष्टदायक जान पड़ता है। वे यह समझते हैं कि, उनको इस बातका पूरा अधिकार है कि, वे जिसप्रकारके विचार अथवा व्यवहार चाहें कर सकते हैं। प्राचीन कालमे नास्तिकोंका एक पंथ ऐसा था जिसके मूल तत्त्व ऐसेही थे। यद्यपि उस पन्थका अस्तित्व इस समय जाता रहाहै, तथापि उसके मतका अवलंबन करनेवाले अबभी बहुतसे लोग पाए जाते हैं। वे लोगभी विवादचातुर्य दिखाने और प्रत्येक विषयमे संशयउत्थापन करनेमें कुशल होतेहै। परन्तु फिरभी प्राचीनोंकी ऐसी दक्षता उनमें नहीं होती।

---

१ सत्य अविनश्वर ब्रह्म है, सत्य अविनश्वर तप है, सत्य अविनश्वर यज्ञ है और सत्यही अविनश्वर श्रुति है।

२ जूडिया प्रदेशमे 'पायलेट' नामक एक रोमन गवर्नर था। इसीने क्राइस्टको वधदण्ड दिया। इसीने जब क्राइस्ट से पूछा "तू कौन है"? तब क्राइस्ट ने कहा "मै सत्यके प्रचार करनेके लिये उद्योग करनेवाला हूं"। इसपर पायलेटने फिर प्रश्न किया कि 'सत्य कहते किसे है'? परन्तु उत्तर मिलनेके पहिलेही वह न्यायासन छोड़कर चल दिया।

मनुष्योंको असत्य क्यों इतना प्रिय है ? सत्यके ढूँढनेमें अनेक और परिश्रम उठाने पड़ते हैं, इसलिये लोग असत्य बोलतेहैं; अ सत्यको पाने पर तदनुकूल व्यवहार करनेसे वे डरतेहैं, इसलिये असत्य बोलते हैं। नहीं; ये दोनों कारण ठीक नहीं। मनुष्यका बुर स्वभावही असत्य बोलनेका आदिकारण जान पड़ता है। कवि लोग मनोरंजनके लिये मिथ्या बोलते हैं और व्यापारी लोग व्यापारमे लाभ उठानेके लिये ग्राहकोंसे मिथ्या बोलते हैं, परन्तु जहाँ अणु मात्रभी स्वार्थकी सिद्धि नहीं है, वहाँभी बहुधा लोग मिथ्या बोलते हैं। इसका क्या कारण है कुछ समझमें नहीं आता। झूंठ बोलनेमे क्या कोई विशेष आनन्द मिलता है जिससे लोग वैसा करते हैं इस विषयका शोध करनेके लिये एक ग्रीकतत्त्ववेत्ताने बहुत कालपर्यन्त परिश्रम किया, परन्तु उसका अभीष्ट अन्तमें सिद्ध नही हुआ। सत्य दिनके शुभ्र प्रकाशके समान तो नहीं है ? नाट्याभिनय तथा ऐन्द्रजालिक खेलोंमें जो नाना प्रकारके दृश्य दिखाये जाते हैं, वे रात्रिके समय जितने भव्य और मनोरंजक लगते हैं उसके आधे भी दिनमें नहीं लगते। इसी प्रकार सांसारिक विषय असत्यका सहारा पानेसे जैसा खुलते है सत्यका सहारा पानेसे वैसा नहीं खुलते। सत्यकी तुलना मोतीसे की जा सकती है—मोती दिनमें विशेष चमकता है परन्तु हीरा नहीं। इसीसे हीरेकी उपमा नहीं दे सकते। हीरेके चारों ओर रात्रि मे दीपकका प्रकाश पड़नेसेही उसकी दीप्ति अधिक दिव्य देख पड़ती है।

सत्यके साथ असत्यका मेल करनेमें मनुष्यको एक प्रका आनन्द मिलताहै—इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि मनुष्यके मनसे भिमान, अत्युच्च आशा, अनुचित आग्रह तथा नाना प्रकारकी व निकाल ली जावैं तो सहस्रशः मनुष्योंका चित्त इतना उदास, और आकुञ्चित होजायगा कि, वह स्वतः उन्हींको दुःखदायक ह लगेगा।

एक क्रिश्चियन धर्मप्रचारकने आवेशमें आकर कविताको "राक्षसों के पान करने का पदार्थ" कहा है; क्योंकि कवित्वके आस्वादनसे मनुष्योंके मनमें नाना प्रकारकी असत्यकल्पना उत्पन्न होती हैं। ऐसा असत्य जो उत्पन्न होकर कुछ कालके अनन्तर नाश होजाता है वह हानिप्रद नहीं है; परन्तु जो असत्य मनमें लीन होकर वहीं स्थिर रहता है वह अति अन्यायकारक है और इस प्रस्तावमें उसी प्रकारके असत्यसे हमारा अभिप्राय है। विवेकहीन दुष्टप्रकृति मनुष्योंको असत्य चाहै जितना प्रिय हो परन्तु सत्य स्वयमेव यह शिक्षा करता है कि, सत्यका शोध करनेमें, सत्यको जाननेमें और सत्यपर विश्वास रखनेहीमें मनुष्यका कल्याण है। सृष्टिरचना के समय ईश्वरने प्रथम इन्द्रियगोचर प्रकाश निर्माण किया; तदनन्तर उसने ज्ञानगम्य प्रकाश को बनाया अर्थात् आदिमें उसने पञ्च महाभूतोको और फिर मनुष्यको आत्मा रूपी प्रकाशसे प्रकाशित किया। तदतिरिक्त अभीतक बराबर समय समयपर वह अपने प्रीतिपात्र भक्तोंके अन्तःकरणको सत्यप्रकाशसे प्रकाशित कियाही करता है।

औरोंकी अपेक्षा एक कनिष्ठ जातिको अलंकृत करनेवाला एक कवि बहुतही उत्तमताके साथ कहता है कि, तटपर खड़े होकर समुद्र मे जहाजोंका इधर उधर डगमगाना देखकर आनन्द होता है; गढ़के भीतर खिड़कीके पास बैठकर नीचे होते हुए युद्ध और तद्गत वीरोंके पराक्रमको देखकर आनन्द होता है; परन्तु सत्यके शिखरपर आसन लगाकर नीचेके लोगोंके प्रमाद, दौड़ धूप, भ्रान्ति और अज्ञान को देखकर जो आनन्द होता है उस आनन्दकी उपमाही नहीं है। हां, यह अवश्य है कि, ऐसी दशामें देखनेवालोंको उन्मत्त होकर गर्वकी दृष्टिसे नहीं किन्तु दयार्द्रदृष्टिसे देखना चाहिये। जो परोपकारमे रत हैं, ईश्वरमे जिसको विश्वास है और सत्यका जो अनुसरण करता है उसको भूमण्डलही स्वर्ग है।

तत्त्वज्ञान और परमार्थविषयक सत्यको छोड़ अब हम साधारण व्यवहार विषयक सत्यका विचार करते हैं। जो मनुष्य कपटी और अप्रमाणिक हैं वे भी इस बातको स्वीकार करेंगे कि, निष्कपट और सरल व्यवहार मनुष्यमात्रका भूषण है। सत्यमें असत्यका मेलकरनेसे वही परिणाम होता है जो परिणाम सोना और चाँदीमें राँगा इत्यादि कम मूल्यके धातुओंको मिलानेसे होता है। यह सत्य है कि, हीन धातुके मिश्रणसे सोने अथवा चाँदीके सिक्के अच्छे निकलते हैं परन्तु उनका मूल्य अवश्यमेव कम होजाता है और सब कही उनपर बट्टा लगने लगता है। असत्य बोलनेसेभी बातमे बट्टा लगता है, यह सभी जानते हैं। समस्त प्राणिवर्गमें सर्प अधम है, क्योंकि पैरसे न चलके वह पेटके बल टेढी चाल चलता है। इसलिये उस मनुष्यको भी सर्पहीके समान अधम समझना चाहिये जो सत्यकी सरल रीतिका अवलम्बन न करके असत्यकी वक्र गतिको अंगीकार करता है। असत्यव्यवहार और कृत्रिमभाव प्रकाशित होनेपर मनुष्यको जितनी लज्जा लगती है उतनी लज्जा और किसीभी जघन्य कृत्यके प्रकाशित होनेपर नहीं लगती। "रे मूर्ख ! ऐसा असद्व्यवहार करता है" ! इस प्रकार किसीको कहनेपर उसे इतना क्रोध और इतनी लज्जा क्यों लगनी चाहिये ? इसपर मान्टेन कैसी मार्मिकतासे कहता है कि "किसीको कहना कि, तुम असत्यका वर्त्ताव करतेहो मानो उसे यह सूचित करना है कि, तुम ईश्वरसे तो डरते नही किन्तु मनुष्यसे डरतेहो"; क्योंकि असत्य व्यवहार करनेवाला असत्यको, डरके मारे, मनुष्योंसे तो छिपाता है परन्तु उसके समस्त कृत्योंका साक्षी परमेश्वर है, इसका उसे स्मरणही नहीं रहता।

---

१ क्रिश्चियन लोगोंका कथन है कि, सर्पने मनुष्योंके आदि पितरोंको धोखा दिया था इसलिये ईश्वरने उसे यह शाप दिया कि, तू आजसे पैरोंके बल न चलकर पेटके बल चलैगा।

विपत्ति २.

आपद्गतः किल महाशयचक्रवर्ती
विस्तारयत्यकृतपूर्वमुदारभावम् ।
कालागुरुर्दहनमध्यगतः समन्ता-
ल्लोकोत्तरं परिमलं प्रकटीकरोति ॥

भामिनीविलास ।

सेनेकाने बहुत ठीक कहा है कि, सम्पत्ति कालकी जितनी सद्वस्तु हैं उनके मिलनेकी अभिलाषा रखनी चाहिये परन्तु विपत्तिकालकी जितनी सद्वस्तु हैं उनकी साश्चर्य प्रशंसा करनी चाहिये । मनुष्यस्वभाव के ऊपर आधिपत्य करनेको यदि विलक्षण चमत्कार कहते हों तो ऐसे ऐसे अनेक चमत्कार विपत्तिहीमें देख पड़ते हैं । उसी तत्त्ववेत्ताकी उपर्युक्त उक्तिसे बढ़कर एक और उक्ति है। वह कहता है कि, एकही व्यक्तिमें मनुष्यकी अशक्तता और ईश्वरकी निर्भयताका होनाही सच्चा बड़ापन है । इस प्रकारकी उक्ति काव्यमें अधिक शोभा देती, क्योंकि उसमें मनमानी कल्पना की जासकती है । प्राचीन ग्रीक तथा रोमन कवियोंने इसका उपयोग किया भी है। वे कहतेहैं कि, प्रोमीथियसको

१ आपत्तिकालमें सत्पुरुष उस उदारताको दिखाते हैं जो उन्होंने पहिले कभी (अर्थात् ऊर्जितावस्थामें) भी नही दिखाई थी । सत्य है, कालागरुको अग्निमें रखनेहीसे उसकी लोकोत्तर सुगन्ध सब ओर फैलती है ।

२ रोमनगरमें सेनेका नामका एक प्रख्यात तत्त्ववेत्ता होगया है ।

३ प्रोमीथियसका जन्म ग्रीसदेशमें हुआ था। यह ऐसा विलक्षण चतुर और छली था कि, इसने अनेक बार देवताओंसे भी छल किया । इसीलिये जुपीटर नामक देवोंके राजाने क्रोधमें आकर इसे काकेशश पर्वतके एक शिखरसे बाँध दिया था । यही हरक्यूलिसने इसे बन्धमुक्त किया ।

मुक्त करनेके लिये जब हर्क्यूलिस[1] बद्धपरिकर हुआ तब उसने इस प्रचंड महासागरको मृत्तिकाकी नौकापर आरोहण करके पार किया, जिससे यह अभिप्राय निकलता है कि, दृढ़ संकल्प करनेसे इस पंचभूतात्मक नश्वर शरीरहीके द्वारा मनुष्य संसाररूपी समुद्रके पार जाने में समर्थ होसकता है। सम्पत्तिमें परिमिताचरण रखना सद्गुण है और विपत्तिमें धैर्य धरना भी सद्गुण है। परन्तु इन दोनोंमेंसे द्वितीय सद्गुण अर्थात् विपत्तिमें धैर्य धारण करना नीतिशास्त्रवालोंने श्रेष्ठ माना है। सम्पत्तिकालमें अनेक भयप्रद और अनिच्छित बातोंका होना असम्भव नही और आपत्तिकालमे आशा और समाधान कारक अनेक बातोंका होनाभी असम्भव नहीं।

हम देखते हैं कि, साधारण वेल बूटा निकालने तथा जरीका काम करनेमें काले और सादे कपड़ेके ऊपर रंगीन काम जैसा शोभा देताहै वैसा चमकीले कपड़ेके ऊपर काला काम नहीं शोभा देता। अतएव अन्तःकरणके आनन्दित होनेकी कल्पना नेत्रोंके आनान्दितहोनेके प्रकारको देखकर करनी चाहिये। सत्य तो यह है कि, सद्गुण सुगन्धित वस्तुके समान हैं। जैसे बहुमूल्य सुगन्धित वस्तुको जबतक अग्निमें नहीं डालते अथवा उसे नही तोड़ते तबतक उसका सुवास बाहर नही निकलता, वैसेही जबतक विपत्ति नहीं आती तबतक सच्चे सद्गुणका होना अथवा न होनाभी नही जाना जाता। सम्पत्तिमें दुर्गुण भलीभांति दिखलाई देते हैं और विपत्तिमें सद्गुण भलीभाँति दिखलाई देते हैं।

---

१ हरक्यूलिस भी ग्रीसदेशमें एक महापराक्रमी पुरुष होगया है। मरनेके अनन्तर इसको लोगोने देवताओंकी कक्षामें स्थान दिया और आदरभी इसका वैसाही किया

बदला लेना ३.

उपकारकमायतेर्भृशं प्रसवः कर्मफलस्य भूरिणः ।
अनपायि निबर्हणं द्विषां न तितिक्षासममन्यसाधनम् ॥

किरातार्ज्जुनीय ।

बदला लेना एक प्रकारका असभ्य न्याय है। ऐसे न्यायकी ओर मनुष्य की प्रवृत्ति जितनी अधिकहो विधि (कानून) की उतनीही अधिक उसकी प्रतिबंधकता करनी चाहिये, क्योंकि पहिलाअपकार केवल विधि की सीमा का अतिक्रमण करता है परन्तु उस अपकारका बदला लेने जाना मानों विधि की सत्ताहीको न मानना है । यह सत्य है कि, बदलालेनेसे मनुष्य अपने शत्रुकी बराबरीका होजाता है परन्तु बदला न लेकर तत्कृत अपराधको क्षमा करनेसे वह उसकी अपेक्षा श्रेष्ठताको पहुँचजाता है, क्योंकि क्षमा करना बड़ोंका काम है। सालोमेन ने यह कहा है कि, "दूसरोंके अपराधको चित्तमें न लाना मनुष्यके लिये अत्यन्त भूषणास्पद है" । जो हुआ सो हुआ; गई हुई बात पुनः पीछे नही आती; अतः बुद्धिमान् लोग वर्त्तमान और भविष्य बातोंहीका चिन्तन करते हैं; गत बातोंका नहीं । गतका विचार करते बैठना मानो अपने बहुमूल्य समय को अकारण नष्ट करना है ।

ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं है जो दूसरेका अपकार विना किसी कारणके करताहो । अपकार करनेमें उसका कुछ न कुछ अभीष्ट अवश्य रहताही है; चाहे वह प्राप्ति हो, चाहे मनोरंजन हो, चाहे भूषण हो

---

१ भविष्यत्में अधिकाधिक उपकारक होनेवाली, कार्यसिद्धिके उत्तमोत्तम फल की देनेवाली, स्वयं कभी भी नाश न होकर शत्रुओंका नाश करनेवाली क्षमाके समान अन्य साधन संसारमें नहीं है ।

२ सालोमन जेरुशलेम का राजाथा । इसने ईसवी सन्के पहिले ९७५ से १०१५तक राज्य किया । यह एक अद्वितीय चतुर, न्यायी और महात्मा था । तत्त्वशास्त्र का भी इसे उत्तम ज्ञान था ।

अथवा चाहै ऐसेही और कुछहो । कुछपै कुछ स्वार्थ रहताहीहै । तब हमारी अपेक्षा अपना हित साधनके लिये किसीको विशेष तत्पर रहते देख हमें बुरा क्यों मानना चाहिये? परन्तु यदि दुष्टप्रकृति होनेहीके कारण विना किसी उद्देशके कोई किसी का अनिष्ट करै तो भी बुरा न मानना चाहिये, क्योंकि दूसरोका अपकार करना उसका स्वाभाविक धर्मही है। काँटोंसे यदि शरीर चुभ अथवा खुरच गया तो क्या किसीको क्रोध आताहै ? नही; चुभ जाना और खुरचना काँटोका जन्म स्वभावही है । ऐसे अपराध जिनके लिये नीतिशास्त्रमें कोई दंडविधान नहीं किया गया उनका बदला लेना किसी भाँति मान्य कहा जासकता है ? परन्तु बदला लेनेके पहिले मनुष्यको निश्चय कर लेना चाहिये कि, यथार्थमे इस अपराधके ऊपर नीतिकी सत्ता नही चल सकती, नही तो एकके स्थानमें उसे दो शत्रुओका सामना करना पडेगा । एक तो अपकार करनेवालेका और दूसरा विधि शास्त्रका । कोई कोई मनुष्य बदला लेनेमें अपने प्रति-पक्षीको किसी न किसी प्रकार विदित करदेते हैं कि, अमुक व्यक्तिने अमुक बातके लिये उससे बदला लिया । ऐसे व्यवहारमे विशेष उदा-रता व्यक्त होती है, क्योकि इसमें प्रतिपक्षी का अहित करके आनन्द माननेकी अपेक्षा उसको पश्चात्ताप पहुँचानेका हेतु अधिक रहता है । परन्तु नीच और भीरु मनुष्य अन्धकारमे बाणप्रहार करनेके समान छिपके बदला लेते हैं ।

फलारेन्सके कास्मस नामक ड्यूकने अविश्वासपात्र और समयपर सहायता न करनेवाले मित्रोके विषयमें बहुत कठोर वाक्य कहे है । उसके मतानुसार मित्रकृत अपराधोकी क्षमा होही नहीं सकती । उसका यह कथन है कि, शत्रुओंको क्षमा करनेके विषयका आधार मिलता है परन्तु मित्रोको क्षमा करनेके विषयका आधार नही मिलता। परन्तु जाब नामक महात्माका कहना इतना अप्रशस्त नहीं है। वह कहताहै कि ईश्वरके दियेहुए सुखका जब हम अनुभव करते हैं तब

उसीके दियेहुए दुःखको क्या हमें न सहन करना चाहिये? करनाही चाहिये। बस, इसी नियमका प्रयोग मित्रोंके विषयमेंभी करना उचित है।

सत्य तो यह है कि, जो मनुष्य अपने प्रतिपक्षीसे बदला लेनेके विचार में सदैव निमग्न रहता है वह अपनेही घाव को, जो योंही छोड़ देनेसे कुछ दिनमें सूखकर आपही आप अवश्य अच्छा होजाता, मानों नया बनाए रखता है। सार्वजनिक विषयमें बदला लेनेसे बहुधा देशका कल्याण होता है जैसे सीजर[1], परटीनैक्स[2] और फ्रान्सके तृतीय हेनरी इत्यादिकी मृत्युसे हुआ है; परन्तु व्यक्तिविशेषके वैरकी बात वैसी नही है। उससे कल्याण नही होता। कल्याण तो दूररहा बदला लेनेमें तत्पर रहने वालोंकी दशा डाइनकीसी होजाती है। अर्थात् जैसे डाइन जबतक जीती है तबतक दूसरोंको पीड़ित करती है और अन्त में स्वयं दुःख भोगती है वैसेही वे लोग भी दूसरोंको दुःख देकर अपने आपको भी दुःखित करते हैं।

व्यय ४.

यदर्ज्यते[3] परिक्लेशैरर्जितं यन्न भुज्यते।
विभज्यते यदन्तेन्यैः कस्य चिन्माऽस्तु तद्धनम्॥

सुभाषितरत्नाकर।

धन, व्यय करनेहीके लिये है; परन्तु हां, सत्कार्य और यशः मद-

---

१ जूलियस सीजर रोम का पहिला सार्वभौम राजा था। यह महा पराक्रमी था। इसने समग्र इटली देशको ६० दिनमें विजय किया। इसके सभासदोंने जिनमें इसका मित्र ब्रूटस भी था, इसकी चढ़ती कलाको सहन न करके इसे ईसवी सन्के ४४ वर्ष पहिले मारडाला। उस समय इसका वय ५६ वर्षका था।

२ परटीनैक्स भी रोमका एक सार्वभौम राजाथा। यह एक निकृष्ट वंशसे उत्पन्न हुआथा। ८७ दिन राज्य करनेके अनन्तर सन्१९३ में इसके सैनिकोंने इसकी की हुई सुधारणासे अप्रसन्न होकर इसे मारडाला। यह बड़ाही सद्गुणी राजाथा

३ जिसके उपार्जन करनेमें अत्यन्त कष्ट सहन करना पड़ताहै; परन्तु कष्ट सहन करके भी जिसका उपभोग नही कियाजाता; अतएव अन्तमें जिसे दूसरेही लेजाते है, ऐसे धनके होनेसे न होनाही अच्छा है।

कृत्योंमें व्यय करना चाहिये; अन्यत्र नहीं। विशेष व्यय करनेका प्रसंग आनेसे कार्यके महत्त्वका विचार करके तदनुसार व्यय करना चाहिये क्योंकि योग्य प्रसंग पड़नेपर अपनी समस्त सम्पत्ति भी यदि व्ययकर दी जाय तो वह व्यय दोनों लोकोंमें बराबर श्रेयस्कर होताहै। परन्तु सामान्य व्यय मनुष्यको अपनी शक्तिके अनुसार करना चाहिये और उसकी ओर सदैव ध्यान रखना चाहिये कि, प्राप्तिसे अधिक तो नहींहोता। नौकर चाकरो पर भी दृष्टि रखनी चाहिये जिसमें वे अनुचित व्यय न करैं और छलसे स्वार्थसाधन भी न करसकैं। प्रबन्ध ऐसा करना चाहिये जिसमें अपने घरका यथार्थ व्यय लोगोंके अनुमानकी अपेक्षा कमहीरहै; बढ़ने न पावे। यदि किसीकी यह इच्छा हो कि उसे धन सम्बन्धी कोई असुविधा न हो तो उसको अपनी प्राप्तिका आधा भाग व्यय करनाचाहिये और यदि धनी होनेकी इच्छा हो तो केवल एक तृतीयांश व्यय करनाचाहि ये। बड़े बड़े श्रीमान् लोगोंको भी अपने आय व्ययका विचार करना आर अपनी सम्पत्तिपर दृष्टि रखना उचितहै ऐसा। करनेमें कोई मानहानि नहीं। कोई कोई लोग अपने आय व्ययकी व्यवस्था नहीं देखते; इसका कारण केवल उनकी आलसताही नहीं, किन्तु हिसाब करके धनकी क्षीणताको जानकर वे दुःखित होनेसे डरतेहैं, यह भी है। परन्तु ऐसा करना कदापि समुचित नहीं। घाव कहां है, यह जब तक नहीं जाना जायगा तबतक उस का प्रतीकार कैसे हो सकैगा? जो मनुष्य अपनी सम्पत्तिकी व्यवस्थाको भलीभाँति नही देख सकता उसको प्रामाणिकनौकर रखने चाहिये और वे समय२ पर बदलने भी चाहिये, क्योंकि नवीन नौकर विशेष डरते हैं, अतएव वे कपट व्यवहार भी नही करते। जिसे अपनी सम्पतिके निरीक्षण करनेका अवकाश कम मिलताहै, उसे अपने आय और व्ययका निश्चय कर डालना चाहिये। अर्थात् क्या मिलताहै और क्या देना पड़ता

है, इसका ठीक ठीक हिसाव समझलेना चाहिये। जिसको एक विषयमें विशेष व्यय करनापड़ता हो उसे चाहिये कि, वह किसी अन्य विषयमे कम व्ययकरै; जैसे यदि खाने पीनेमे अधिक पैसा उठता हो तो कपड़े लत्ते वनाने मे कमी करनी चाहिये। इष्ट मित्रोंके सन्मानमे यदि विशेष व्यय करनेकी आवश्यकता पड़ती हो तो गाड़ी घोड़े रखनेमे कम व्यय करना चाहिये; इत्यादि । कारण यह है कि जो पुरुष सभी कामोमें वेहिसाव व्यय करताहै वह अवश्यमेव कुछ दिनमें निर्धन होनेसे नहीं वचता ।

जिसे अपनी सम्पत्ति ऋणसे मुक्त करानीहो उसे न तो वहुत शीघ्रता करनी चाहिये और न वहुतविलम्वही करना चाहिये; क्योंकि शीघ्रतासे उतनीही हानि होनेकी सम्भावना रहतीहै जितनी विलम्व करने से रहती है अर्थात् वेचने मे त्वरा करनेसे जो आधा तिहाई मूल्य मिलेगा उसे लेलेना और देरकरके व्याज वढने देना दोनों वातैं समान हानिकारकहैं। इसके अतिरिक्त जो मनुष्य झटपट ऋण-मुक्त होजाता है उसे फिरभी ऋणग्रस्त होनेका डर रहताहै; क्योंकि ऋण होजानेसे उसे पूर्ववत् अनिष्ट व्यवहारकरनेका साहस आजाताहै। परन्तु जो मनुष्य क्रम क्रमसे अपना ऋण चुकाता है, समझवूझकर व्यय करना उसका स्वाभाविक धर्म होजाताहै, जिससे उसके मन और सम्पत्ति दोनों को लाभ पहुँचता है ।

गईहुई सम्पत्तिको पुनरपि प्राप्तकरनेकी जिसे इच्छाहै उसे छोटी छोटी वातोंकी ओरभी दृष्टि देनी चाहिये । सत्य तो यह है कि, थोड़े लाभके लिये हाथ उठानेकी अपेक्षा छोटे मोटे व्ययके कम करदेनेमें विशेष भूषण है। एकवार आरम्भ होजानेसे जो सदैव व्यय करना पड़ता है उसके विषयमें मनुष्यको अधिक संचेत रहना चाहिये । परन्तु एक वार करके जिस व्ययको पुनः करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती उसमे उदारता भी दिखाई तो चिन्ता नही ।

त्वरा ५.

अत्यावश्यमनावश्यं क्रमात्कार्यं समाचरेत् ।
प्राक्पश्चाद्वाग्विलम्बेन प्राप्तं कार्यं तु बुद्धिमान् ॥

शुक्रनीति ।

औरोंको दिखानेके लिये अकारण त्वरा करनेसे कार्यको अतिशय हानि पहुँचती है । इस प्रकारकी त्वरा उस पाचन क्रियाके समान समझनी चाहिये जिसे वैद्य लोग भस्मक कहते हैं अर्थात् जिसके कारण उचित समयके पहिलेही आमाशयमें जातेही जाते अन्न पच जाता है । ऐसी क्रियासे शरीर अपक्व रससे परिपूर्ण होजाता है और अनेक रोगोंके गुप्तबीज उत्पन्न होते हैं । इसलिये त्वराका अनुमान अधिक देरतक बैठकर कोई कार्य करनेसे न करना चाहिये, किन्तु यथार्थमें कार्य कितना हुआ इसका विचार करके करना चाहिये ।

दौड़नेमें जैसे लम्बे लम्बे फाल धरने अथवा ऊँची ऊँची छलांग भरनेसे त्वरा नही होती वैसेही कार्यमें भी है । एक बारही बहुतसे कार्यका बोझा उठानेसे नहीं, किन्तु नियमानुसार थोड़ा थोड़ा करनेसे वह शीघ्र निपटता है । कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जो दूसरोंको अपनी त्वरा दिखानेके लिये किसी भाँति झटपट कामको पूरा करदेते हैं, अथवा किसी युक्तिद्वारा पूरा होजानेकासा भाव प्रकट करते हैं; परन्तु कार्यको हस्तगत करके शीघ्रताके साथ पूर्ण करना एक बात है और उसे काटछाँटके कम करदेना दूसरी बात है । बहुतसे काम ऐसे हैं जिनके करनेमें देर लगती है । ऐसी दशामें काम करनेके लिये कई बार बैठना पड़ता है । परन्तु यदि प्रति बैठकमें कुछ काम कम करके त्वरा की जाय तो काममें अवश्यमेव बाधा आती है और वह भली भाँति नही होता । हमारा एक बुद्धिमान् मित्र था । लोगोंको काममें

---

१ काम पडनेपर बुद्धिमान्को चाहिये कि, जो अत्यावश्यक है वह काम तत्न्तही करडाले, जो तत्काल अनावश्यक है उसे पीछेसे यथावकाश करे ।

शीघ्रता करतें देख वह बहुधा यह कहा करता था "भाई किंचित् ठहारिये, जिसमें कार्य शीघ्र समाप्त होजावे" ।

परन्तु आवश्यकत्वरा एक अनमोल पदार्थ है । वस्तुमात्रकी योग्यता जैसे पैसेसे समझीजाती है वैसेही कामकी योग्यता समयसे ममझीजाती है । इसीसे जिस कामके करने में विलम्ब लगता है वह महँगा पडता है । स्पार्टा और स्पेनके रहनेवाले काममे कभी त्वरा नहीं करते । अतएव यह कहावत प्रसिद्ध होगई है कि "हमारा मृत्यु स्पेनसे आवे तो अच्छा है"; क्योंकि, यदि वहांसे आवेगा तो अवश्येमव देरमें आवेगा ।

जो मनुष्य काम काजकी प्रथम सूचना देता है उसके कहनेको भलीभाँति सुनो । यदि तुम्हें उसको कुछ कहना है तो पहिलेहीसे कह रक्खो; बीचमें उसे मत छेड़ो; क्योंकि, जो जिस बातको जिस रीतिसे कह रहा है उसे वैसे न कहने देनेसे वह गड़बड़ा जाता है और कहनेके विषयको भूल जाता है । ऐसा होनेसे उसकी बात अच्छी नहीं लगती । परन्तु बीचमें न छेड़कर यदि उसे अपने प्रकार पर अपनी बात कहने दोगे तो ऐसा कदापि न होगा । तथापि यह सत्य है कि, कभी कभी नटकी अपेक्षा सूत्रधारके वाक्य श्रवण करनेमे जी अधिक ऊब जाता है ।

एकही बातको बार बार कहनेसे समय वृथा नष्ट होता है परन्तु जो विषय चला है उस विषयके सम्बन्धमें पुनरुक्ति करने से समय उलटा बचता है, क्योंकि मुख्य प्रश्न की ओर ध्यान दिलाने से निरर्थक वार्त्तालाप करने का स्वभाव छूट जाता है । त्वरा के काममें लम्बे लम्बे और अलंकृत भाषण उतनीही योग्यता के समझने चाहिये जितनी योग्यताके चोग़े और पैरतक लटकने वाले घोड़ोंके चारजामें घुड़दौड़में समझे जाते हैं । भाषणके आरम्भ में प्रस्तावना करना, प्रमाण देना, क्षमा माँगना अथवा औरों के कथन का उदाहरण देनासमयको निरर्थक नष्ट करना है । यद्यपि उस समय

ऐसा भासित होता है कि ये सब बातें यह मनुष्य अपनी शालीनताके कारण कह रहा है तथापि एतादृश आडम्बरको प्रतिष्ठाद्योतकही समझना चाहिये। परन्तु यदि मनुष्योंके मनमें किसी प्रकार का अनुचित आग्रह उत्पन्न होगया हो और ऐसा होनेसे यदि तुम्हारे काममें प्रतिबन्ध आता हो तो प्रस्तावनाके विना प्रतिपाद्य विषयकी आलोचना की ओर तुम्हें कदापि तत्काल न बढ़ना चाहिये। जिस स्थलमें मरहम लगाना होता है उस स्थलको पहिले सेंकते हैं तब मरहम लगाते हैं; ऐसा करनेसे मरहम भली भाँति भीतर प्रवेश करजाता है। इसीप्रकार लोगोंके चित्तका अनुचित आग्रह छुडानेके लिये प्रस्तावनाकी आवश्यकता पड़ती है।

काम करनेका क्रम, उसके विभाग और एक एक विभागको एक एक करके समाप्त करना त्वराका मूलसिद्धांत है। यह बात सबसे बढ़कर है; परन्तु कामके विभाग बहुत छोटे छोटे न होने चाहिये। जो मनुष्य अपने कामके विभाग नहीं करता उसका उसमें अच्छीप्रकार प्रवेश नही होता और जो अनेक अनावश्यक विभाग करता है वह उन सबको यथायोग्य समाप्त करनेमें समर्थ नहीं होता। अनुकूल समयमें काम करनेसे समय कम लगता है और प्रतिकूल समयमें करनेसे वायुको ताडन करनेके समान श्रम निष्फल जाता है। कामके तीन भाग होते हैं:—कामको प्रस्तुत करना, उसके विषयमे वादविवाद करके योग्यायोग्यका निर्णय करना और अन्तमें उसे सिद्ध करना। यदि तुम्हारी यह इच्छा है कि, काम शीघ्रही समाप्त होजावे तो करे हुए विभागोंमेसे मध्यके विभागमें एकको छोड अनेकोका उपयोग तुम्हें करना चाहिये; परन्तु आदि और अन्तके विभागोंमें दोही चार मनुष्यों को युक्त करना उचित है; अधिकोको नहीं।

जो कुछ कहना है उसे लिखकर वादविवादके लिये प्रस्तुत करना चाहिये; क्योंकि, ऐसा करनेसे काम शीघ्र होता है।

चाहे अपनी सूचना अमान्यही क्यो न हों तथापि मुखाग्र कहने सुनने से निश्चित रूपमें उसे लिखलेना अधिक लाभकारी है। धूलि और राख यद्यपि दोनों क्षुद्र पदार्थ हैं; तथापि, फिर भी, राखकी खाद बनानेसे वह विशेष उपयोगमें आती है।

विद्याध्ययन ६.

मातेव रक्षति पितेव हिते नियुङ्क्ते
कान्तेव चापि रमयत्यपनीय खेदम्।
लक्ष्मीं तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्तिं
किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या॥

सुभाषितरत्नाकर।

विद्याध्ययनसे मन मुदित होता है; बातचीत में विशेष शोभा आती है और योग्यता भी बढ़ती है। एकान्तवास और निष्कार्यदशा मे विद्याध्ययन का मुख्य उपयोग तद्वारा आनन्द प्राप्त करनेमें होता है। सम्भाषण के समय उसका मुख्य उपयोग कथन को अलंकृत करने में होता है; और सारासार विचारपूर्वक काम काजकी व्यवस्था करने के लिये उसका मुख्य उपयोग व्यवहारदक्षता सम्पादन करने में होता है। अनुभव से जिन्हों ने चातुर्य प्राप्त किया है वे काम काज अवश्य करते हैं और एक २ बात का अलग अलग विचार करके बहुधा अच्छे प्रकारभी करते हैं; परन्तु सामान्यतःयोग्यायोग्य को समझना, अनेक उपयोग युक्ति प्रयोग करना और प्रत्येक भागको सुव्यवस्थित रखना विद्वानोंकाही काम है।

शास्त्रचर्चा में प्रमाणसे अधिक समय व्यय करना जड़ता है; वार्तालाप में भाषण को सालंकार करने के लिये शास्त्र का अतिशय

---

१ विद्या माता के समान रक्षा करती है; पिता के समान हित में तत्पर रखती है; कान्ता के समान खेदित चित्त को प्रसन्न करके सुख देती है; सम्पत्ति को बढ़ाती है; कीर्तिको दिशाओं में फैलाती है। कल्पलता के समान विद्या क्या २ नहीं साधन करती? अर्थात् सभी करती है।

उपयोग करना एक प्रकार का विकार है; और सभी काम में शास्त्रानुसार वर्तन करने जाना विद्वान् होकर भी अपनी व्यवहार-शून्यवृत्ति को दिखाना है ।

विद्याभ्यास से मनुष्य के स्वाभाविक गुण पूर्णता को पहुँच जाते हैं और अनुभव से स्वयं विद्याभ्यास पूर्णता को पहुँचता है; क्योंकि मनुष्य की स्वाभाविक बुद्धि स्वयंभू अर्थात आपही आप उठानेवाले पौधों के समान है । इसप्रकार के पौधे को छाँटने से जैसे वे अधि-काधिक बढ़ते और बलिष्ठ होते हैं वैसेही स्वाभाविक बुद्धि में विद्या-की क़लम लगाने से वह विशेष प्रौढ़ता को धारण करती है । विद्या-ध्ययन से नानाप्रकार के नियम विदित होते हैं यह सत्य है. तथापि किस नियम को कहाँ और कैसे काममें लाना चाहिये, यह अनुभवही के प्रतापसे समझ में आता है । कपटी लोग विद्याध्ययन का तिरस्कार करते हैं और बुद्धिमान् लोग उसको उपयोग में लाते हैं । विद्या का उपयोग कैसे करना चाहिये यह बात केवल अध्ययनही से नहीं जानी जाती । इसके जानने के लिये विद्या के बाहर बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है; क्योंकि विद्या का विकास अनुभव से होता है । अतः उसके उपयोग में लाने के लिये अनुभव प्राप्त करना परमावश्यक है ।

दूसरे के साथ भाषण करने में उसके मत का खण्डन करके उसे कुंठित करने के लिये पुस्तकें न अवलोकन करना चाहिये । किंवा जो कुछ इसमें लिखा है वह सभी सत्य और स्वतः प्रमाण है, इस प्रकार श्रद्धापूर्वक विश्वास उत्पन्न करने के लिये अथवा वार्तालाप के निमित्त कोई विषय ढूँढ़ने के लिये भी कभी पुस्तकावलोकन न करना चाहिये । उनको पढ़कर तद्गत विषयों के सत्यासत्य का निर्णय करने और अपनी विचारशक्ति को बढ़ानेही के लिये पुस्तकें देखना उचित है । कुछ पुस्तकों को केवल स्वाद लेकर रखदेना चाहिये; कुछ को समग्र निगलजाना चाहिये; और कुछ—दो चार—को, सावकाश, धीरे धीरे, चर्वण करके पचाजाना चाहिये। अर्थात

कुछ पुस्तकें ऐसी होती हैं जिनका एक आध भाग पढ़कर छोड़ देना चाहिये; कुछ को समग्र पढ़ना चाहिये, परंतु ध्यान से न पढ़ना चाहिये, और कुछको मनःपूर्वक समझ समझकर साद्यन्त पढ़ना चाहिये। कुछ पुस्तकोंको किसी दूसरे से अवलोकन कराके तत्कृत टिप्पणीमात्र देखलेनी उचित है; परन्तु यह नियम, ऐसी वैसी निःसार पुस्तकें जिनमें कोई महत्त्वकी बात नहीं है, उन्ही के विषय में प्रयोग करना ठीक है; अन्योंके विषय में नहीं।

पुस्तकावलोकनसे मनुष्य बहुश्रुत होता है; भाषणसे उसको समय-सूचकता प्राप्त होती है, और लिखनेसे वस्तुमात्रकी यथार्थता उसके समझ मे आती है। इसलिये जो मनुष्य कम लिखता है उसकी स्मरण-शक्ति विशेष अच्छी होती है; जो कम बोलता है उसकी समयसूचकता विशेष प्रज्वलित रहती है; और जो कम पढता है उसमे, जिस बात को वह नहीं जानता उसे जाननेका सा भाव दिखानेके लिये, कापट्य विशेष वास करता है। इतिहास पढ़ने से मनुष्य बुद्धिमान् होता है; काव्य पढ़नेसे बातचीत करने मे प्रवीणता आती है; गणित पढ़ने से बुद्धि तीक्ष्ण होती है, पदार्थविज्ञान पढ़नेसे विचारशक्ति गहन होती है; नीतिशास्त्र पढ़नेसे गंभीरता आती है; और तर्क तथा साहित्यके अध्ययन से वादप्रतिवाद करनेका सामर्थ्य प्राप्त होता है।

मनुष्य मात्र में बुद्धिगत ऐसा कोई दोष नहीं है जिसका प्रतीकार उचित अभ्यासके द्वारा न होसकताहो। शारीरिकव्याधि दूर करने के लिये जैसे अनेक प्रकारके व्यायाम है वैसेही मानसिक व्यथाओंको दूर करने के लिये भी अनेक उपाय हैं। गेद खेलना, पथरी और मूत्र रोग के लिये अच्छा है; शिकार खेलना, फफडा और छाती के रोगों के लिये हितकर है; धीरे धीरे चलना, उदरव्याधि के लिये लाभदायक है; और घोड़े की सवारी करना, शिरोरोग के लिये आरोग्यप्रद है—इत्यादि। इसप्रकार चंचल चित्तवाले मनुष्य को गणितशास्त्र का अभ्यास करना चाहिये, क्योंकि गणित के किसी

प्रश्न का उत्तर देने में चित्त यदि किञ्चिन्मात्र भी कहीं इधर उधर चलाजावेगा तो उसे उस प्रश्न को आदि से पुनर्वार हल करना पड़ेगा । जिनकी विवेचक शक्ति ठीक नही है अतः जो विषयों का पृथक्करण भली भाँति नही कर सकते उनको "स्कूलमॅन" के ग्रन्थ (व्यवहार दर्शन की टीका) पढ़ने चाहिये; क्योंकि उनमें लिखने-वालों ने पूरी पूरी बाल की खाल निकाली है । जिनको कईबार वही बात नये नये प्रकार पर कहनी नहीं आती अथवा जो लोग एकबात का समर्थन करने के लिये दूसरी बात का प्रमाण तत्काल नहीं देसकते उनको वकीलोंके अभियोग सम्बन्धी लेख इत्यादि देखने चाहिये । इसप्रकार प्रत्येक मानसिक विकारको दूर करने के लिये उचित उपाय होसकते हैं ।

मृत्यु ७.

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधैः ।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन्यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ ॥

रघुवंश ।

लड़कोंको अँधेरे मे जाने से जैसे डर लगताहै; मनुष्यको वैसेही मृत्युसे डर लगताहै । और जिसप्रकार लड़कोंका वह स्वाभाविक डर कथा कहानी आदिके सुनने से बढ़ता है उसी प्रकार मनुष्योंका भी डर मृत्यु विषयकवार्ता सुन २ कर बढ़ता है । यथार्थ मे मृत्युको ईश्वर ने किये हुए अपराधोसे मुक्त होने के लिये स्वर्ग में जानेका द्वाररूप बनायाहै; अतः उसे पवित्र और धर्म्य समझना चाहिये । परन्तु "आया है सो जायगा" इसप्रकार की चिन्तना करके मृत्युसे डरना अविवेकताका लक्षण है । तथापि, बहुधा, मनुष्य मरनेके विषयमे नानाप्रकारके तर्क बाँधते हैं । तपश्चर्यासम्बन्धी प्राचीन पुस्तकोंमें लोगोंने लिख रक्खा है कि, तुम अपने हाथकी एक उँगली को जलाकर अथवा अन्य किसी

---

१ ज्ञानवान् पुरुष कहते है कि, जितने शरीरधारी हैं मरना उनकी प्रकृति (स्वभाव) और जीना विकृति (विकार) है । तस्मात् मनुष्यका श्वास क्षणमात्र जितना चलता है उतनेही को महान् लाभ समझना चाहिये ।

प्रकारसे उसको पीड़न करके देखो तुम्हें कितनी वेदना होती है और उस वेदनासे मृत्युकी वेदना की, जब समस्त शरीरका पात और पृथक्करण होताहै, कल्पना करो। परन्तु इसप्रकारका तर्क समंजस नहीं कहाजासक्ता; क्योंकि मरनेके समय बहुधा इतनाभी क्लेश नहीं होता जितना शरीरके एक अवयव के कटजाने अथवा पीड़ितहोने से होता है। कारण यह है कि, किसी किसी मर्मस्थान तक वेदनाके पहुँचने के पहिलेही कभी कभी उसका वेग जाता रहता है। एक तत्त्ववेत्ताने बहुत ठीक कहा है कि, मृत्युकी अपेक्षा मृत्युकालका उपकरण अधिक भयंकर लगता है। मरते हुए का कराहना; उसके मुखकी विकृतचेष्टा; उसके अंगविक्षेप तथा इष्टमित्रोंका रोना और प्रेतसंस्कार की विधि इत्यादिको देखकर मनुष्यका भयभीत होजाना कोई आश्चर्य की बात नही।

एक बात यह ध्यानमें रखनेके योग्यहै कि, मनुष्य में ऐसे भी विकारहैं जिनके जागृत होने से मृत्यु तृणप्राय होजाता है। अतः मनुष्य में जब इसप्रकार के अनेक विकार जागरूक हैं, तो मृत्यु से इतना कदापि न डरना चाहिये। देखियेः—बदला लेने के समय मनुष्य मृत्यु को कुछ समझताही नहीं; प्रेम में मत्त होने से मनुष्य मृत्यु का तिरस्कार करता है; अकीर्त्ति से बचने के लिये मृत्यु को मनुष्य मन से चाहता है; दुःख में मनुष्य मृत्यु को घर बैठे बुलाता है; और भय के मारे भीरु मनुष्य अपने को अपनेही हाथसे मृत्यु को अर्पण कर देता है। इतनाही नहीं किन्तु कभी कभी दूसरों के दुःख को देखकर भी मनुष्य अपने प्राण देदेता है। रोम के ओथो नामक राजा ने जब अपने हाथ से अपने को मारडाला तब उसके अनेक सच्चे मित्र और अनुयायीजनोंने राजभक्ति और स्नेह को दिखानेही के लिए प्राणपरित्याग किये। सेनेका नामक रोम का तत्त्ववेत्ता यहाँ तक कहता है कि, जो मनुष्य शूर अथवा आपत्तिपीड़ित नहीं हैं वे भी कभी कभी एकही काम को वारम्वार करने के लिये विवश किये जाने पर, ऊबकर अपना जी देदेते हैं।

स्मरण रखना चाहिये कि, मरने के समय भी कोई कोई सत् पुरुषों की चित्तवृत्ति मे अन्तर नही होता, वे प्राणांत होने तक पहलेही के समान सुप्रसन्न बने रहते हैं । रोम के राजाओं में इस प्रकार के अनेक उदाहरण देखे जाते हैं । आगस्टस सीजर अपनी स्त्री से सन्मानसूचक बाते कहते कहते मरगया । अन्तकाल मे उसने स्त्री से कहा "लिविया! हम चलते हैं; हमें भूल न जाना" । रोम का इतिहासवेत्ता टैसीटस कहता है कि, टिबेरियस ने मरनेतक अपना गूढ़-स्वभाव नही छोड़ा । उस समय भी उसके मुखमे एक, और पेट में एक, बात थी । वेस्पेशियन विनोदात्मक श्लिष्ट भाषण करते करते पंचत्व को प्राप्त हुआ । मरणकाल में स्टूल पर बैठे बैठे उसने कहा "हमे जानपड़ता है हम देवता होरहे हैं"[१] । मरने के समय गोलबा ने मस्तक पर हाथ रख अपने मारनेवालोंसे कहा "यदि हमारे मरनेहीमें लोगोकी प्रसन्नता है तो लो हमारा यह मस्तक प्रस्तुत है"[२] । सेप्टीमियस सिवेरिस ने शीघ्रताके साथ काम करते करते और यह कहते कहते, कि यदि और कुछ करना हो तो तुरन्त लावो, प्राण छोड़े ।

ढूँढने पर इसीप्रकार के औरभी उदाहरण मिलसकते हैं । किसी किसी जाति के लोग मृत्यु को बहुत कुछ समझते हैं और उसके लिये; पहिलेही से उत्कट प्रबन्ध करने लगते हैं, जिससे मृत्युका भय और भी अधिक बढजाता है । जिसने यह कहा कि "मरना एक नैसर्गिक नियम है" उसने बहुतही ठीक कहाहै । जन्मलेना जिस प्रकार स्वाभाविक है मरना भी उसी प्रकार स्वाभाविक है । अज्ञानबालक को मरना और जन्मलेना कदाचित् दोनों समान दुःखद होते होंगे । सत्कार्य में निमग्न रहते रहते मरजाना अच्छा है । शस्त्रप्रहार सहन करके जैसे

---

१ रोमन लोगो का यह कथन है कि, राजा मरने पर देवता होता है; परन्तु साधारण मरने को भी वह 'देवता होना' कहते है ।

२ जिन सैनिकों ने सिंहासन पर बैठनेमे गालबा की सहायता की थी उन्होने प्रतिज्ञानुसार धन न पाने से, क्रोध में आकर उसे मारडाला ।

मनुष्य आवेशमें आकर प्राण छोड़ता है, और उस समय उसे विशेष कष्ट नहीं होता, वैसेही काम में लगे रहने से भी मृत्यु की यातना मनुष्यको अधिक नहीं भोग करना पड़ती । मनुष्यके समस्त इच्छित कार्य फलीभूत और आशाएँ पूर्ण होनेपर जो मृत्यु आतीहै वह अवश्य सबसे बढकर है । ऐसी मृत्युकी सदैव अभिलाषा रखनी चाहिये । मृत्युसे एक यह अलभ्य लाभ है कि, मरनेके अनन्तर मनुष्यकी कीर्ति विशेष फैलती है । मृतमनुष्यका लोग मत्सरकरना छोड़देते हैं ।

विलम्ब ८.

सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत्कृतं
सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम् ।[1]

हितोपदेश ।

भाग्य बाज़ारके समानहै । जैसे कुछ देर ठहरनेसे बाजारमे बचनेके लिए लाएगये पदार्थों का भाव बहुधा घटजाताहै वैसेही योग्य अवसर प्राप्तहोनेपर कार्य का निर्वाह न करनेसे भाग्य की भी कृपा कम हो जाती; है तथापि भाग्य सिबिलों[2] के माँगने के समान भी है; अर्थात जैसे सिबिलाने अपना सारामाल बेचने के लिए प्रस्तुत करके जो मूल्य

---

१ जो कुछ विचार करके कहाजाता है अथवा जो कुछ विचार करके किया जाताहै वह कभी भी नहीं विगड़ता ।

२ अपनी विद्याके बलसे भविष्यत्का ज्ञान रखनेवाली स्त्रियों को रोमके निवासी 'सिबिला' कहते थे । लिखाहै कि, एकबार रोमके टर्किन राजा के पास छः पुस्तकें लेकर एक सिबिला आई और उन पुस्तको का बेहिसाब मूल्य माँगने लगी । जब राजाने न लिया तब उसने उनमेंसे तीन पुस्तकें जलाकर शेष ६ का वही मूल्य माँगा । फिरभी जब टर्किनने लेना स्वीकार न किया तब तीन पुस्तकें और जला दीं; परन्तु मूल्य में तिसपर भी उसने कमी न की । तब आश्चर्य मे आकर राजाने वे तीन पुस्तकें लेकर देखा तो रोमराज्य में होनेवाले अनेक उपद्रव तथा उनके शान्त करने का उपाय उनमें लिखा पाया । शेष ६ पुस्तकों मे क्याथा सो नही जानागया ।

उसका पहिले कहा क्रम २ से मालको जलाकर शेष जो कुछ रहा उसका भी मूल्य वह वही कहती गई। उसीप्रकार भाग्य के अनुकूल पाहिला योग आनेपर जो मूल्य उसका देनापडताहै, तदनन्तर अन्य योग आनेपर पहलेकी अपेक्षा उसका महत्त्व चाहै कितनाही कम क्यों न हो—वही मूल्य देनापड़ता है। कहावत प्रसिद्ध है कि, आयाहुआ सुप्रसंग अग्रभाग में पहिले अपनी लटैं दिखाताहै और यदि उन्हें यथा समय न पकड़लिया जाय तो वह पीछे फिरजाताहै, और ऐसा होनेसे, उसकी केशहीन चाँदमात्र सम्मुख आजातीहै। अथवा ऐसा काहिये कि, पहिले वह बोतलका मुख सामने करता है और उसे जो तत्काल पकड़ न लिया जाय तो वह बोतलके नीचे का मोटा भाग आगे करदेताहै, जिसको हस्तगत करनेमे कठिनता पड़ती है। तात्पर्य यह है कि, अनुकूल समय आनेपर उसे जाने न देना चाहिये।

जो काम करना है उसका आरम्भ सोच समझ कर उपयुक्त समयपर करनाचाहिये। यह सबसे बढकर बुद्धिमानीकी बातहै। होनेवाले विघ्नोंका पूरा पूरा विचार करना उचित है। यह कदापि न समझनाचाहिये कि, क्षुद्रविघ्नों से हमारा क्या बिगड़ेगा? जो विघ्न देखनेमें स्वल्प जानपड़ते हैं वे कभी कभी अन्तमें अपारिहार्य होजातेहैं और उनकी ओर ध्यान न देनेसे लोगोको बहुधा हार माननी पड़ती है। बहुतसे विघ्न ऐसे हैं कि, यद्यपि वे निकट नहीं आये तथापि चलकर आधीदूरपर उनका नाश करनाचाहिये। अपने निकट उनके आनेकी प्रतीक्षा करते बैठे रहना उचित नहीं; क्योंकि जो मनुष्य अधिक कालपर्यन्त निरीक्षण करते रहता है उसे उन्नीस बिस्वे निद्रा आजाती है। विघ्न निकट आनेके लिये प्रतीक्षा करते रहना जैसे मूर्खताकी एक सीमा है, वैसेही उनकी दीर्घ छायाको देखकर अकालहीमें उनका प्रतिबन्ध करना अथवा उनके सन्मुख कटिबद्ध होकर उनको अपने ऊपर आघात करनेके लिये सूचना देना, मूर्खताकी दूसरी सीमा है।

जैसा ऊपर कहागया है, समयकी योग्यता अथवा अयोग्यताका पूर्ण विचार करके कार्यको आरम्भ करना चाहिये। साधारणतः बड़े २ सारे कामोंका आरम्भ आरगेस[1] (सहस्राक्ष—इन्द्र) और उनका अन्त ब्रिएरिस[2] (सहस्रबाहु—अर्जुन) के स्वाधीन करना उचित है। इसका यह तात्पर्य है कि, पहिले योग्यप्रसंगको सूक्ष्मदृष्टिसे देखते रहनाचाहिये और ज्योंही वह आजाय त्योंही हरप्रयत्नसे कार्य करलेना चाहिये। कहतेहैं कि, प्लूटोके[3] शिरस्त्राणको धारण करनेसे राजकार्यपटु पुरुष अदृश्य होजाते थे। कार्य का विचार गुप्तरीतिसे करना, और विचार स्थिर करके, जितना शीघ्र होसके उतना शीघ्र, उसे समाप्त करदेना ही इस कहावत का अभिप्रायहै। जिसप्रकार बन्दूक भरके उसे छोड़तेही वायुमे गोली इस वेगसे जातीहै कि, दिखाई तक नहीं देती. उसीप्रकार यथोचित सिद्धता होने पर कामको तुरन्त करडालने में देरी नहीं लगती क्योंकि वेगका प्रयोग करनाही उस समय मानों उस कार्यको गुप्त; रखना है।

भाषण ९.

[4]वक्ता सदसि ब्रवीतु वचनं यच्छृण्वतां चेतसः
प्रोल्लासं रसपूरणं श्रवणयोरक्ष्णोर्विकासश्रियम्।
क्षुन्निद्राश्रमदुःखकालगतिहृत्कर्मान्तरप्रस्मृतिं
प्रोत्कण्ठामनिशं श्रुतौ वितनुते शोकं विरामादपि॥

कल्पतरु।

---

१ रोमन दैत्य आरगस के १०० नेत्र थे जिनमेंसे केवल दो एक समय में निद्रा लेतेथे।

२ ब्रिएरिस भी ग्रीक और रोमनलोगोंका एक दैत्य था। इसके १०० हाथ और ५० शिर थे।

३ प्लूटो—ग्रीक और रोमन लोगों का यम है।

४ वक्ता को सभामें ऐसा भाषण करना चाहिये जो श्रोताजनों का अन्तःकरण उल्लसित करदेवे; कानों को शृंगारादिनवरसों से पूरित करदेवे; नेत्रों को विकसित करदेवे; क्षुधा निद्रा श्रम दुःख और अन्य कार्यकी विस्मृति करदेवे तथा सुनने के लिये लोगो के चित्तमें उत्कंठा और बन्द होजाने पर शोक उत्पन्न करदेवे।

किसी किसी के भाषण में सत्यानुयायिनी विचार पद्धतिकी अपेक्षा कोटिक्रम लडाने का कौशल विशेष होताहै । चाहे उनका भाषण नितांत निःसारही क्यो न हो तथापि कुछ मनुष्य यह दिखलाना चाहतेहैं कि, वादप्रतिवाद करने की उनमें उत्कट शक्तिहै । मानो विचार सरणिका ज्ञान सम्पादन करनेकी अपेक्षा कोटिक्रम लडानाही अधिक प्रशंसाकी बातहै ! कुछ मनुष्य किसी किसी नियमित विषयको छोड अन्य विषयपर भाषण नहीं करते । ऐसे नियमित विषयोपर जब वे बोलने लगतेहैं तब अच्छा बोलतेहैं, परन्तु उनके पास विषयबाहुल्य न होने के कारण उनका भाषण सुनते सुनते जी ऊब जाताहै और इस प्रकारके विषयदारिद्र्यका भेद खुल जाने पर वह भाषण उपहासास्पद हो जाताहै । आरंभमें अति मनोरंजक भाषणकरके क्रम क्रम से उसका संबन्ध कम करते हुए दूसरे विषयकी ओर बढ़ना सबसे योग्यता का कामहै। ऐसा करनेसे सुननेवालोंके चित्तको, नर्तकके समान, वक्ता अपनी ओर आकर्षण करलेताहै । संभाषण और वादप्रतिवाद करनेमें विषय को मनोरंजक करने के लिये समयानुकूल इधर उधरकी दो चार बातों का समावेश करना चाहिये; तर्कना करनी चाहिये; कोटिक्रम लडाना चाहिये; प्रश्नकरके स्वमतानुसार उनके उत्तर देने चाहिये; और गंभीरताप्रदर्शन पूर्वक विनोद भी करना चाहिये; क्योंकि ऐसा न करके एकही बातके पीछे पडना और उसीका पिष्टपेषणकरना अच्छा नहीं लगता ।

विनोद करते समय इसका ध्यान रहै कि—धर्म, राजकीय प्रकरण, बडे बडे लोग, किसीका तत्काल प्रस्तुत कोई महत्त्वसूचक काम तथा जिसे सुनकर दया आतीहै ऐसी कोई बात—इन सबकी कदापि हँसी न करनी चाहिये । परन्तु,कुछ लोग यह समझते हैं कि,यदि उन्होने मर्मभेदक और आक्षेपपूरित कोई विनोद न किया तो उनका बुद्धिप्राखर्य्य मानों निद्रित होगया—ऐसा लोग समझने लगेंगे । ऐसे

स्वभावको लगाम लगाकर अपने आधीन रखना चाहिए। कटु और क्षार पदार्थोंका भेद समझना मनुष्य के लिए अत्यावश्यक है। वक्रोक्ति कहने वालेसे जैसे मनुष्य डरतेहैं वैसेही उसे औरोंकी स्मरणशक्तिसेभी डरना चाहिए, क्योंकि वक्रोक्ति को मनुष्य कभी नहीं भूलते और अवसर पानेपर बदला लेनेको प्रस्तुत होजाते हैं।

जो विशेष पूँछपांछ करताहै उसके ज्ञानकी वृद्धिभी विशेष होती है, और उससे लोग सन्तुष्टभी रहतेहैं। जो जिस विषयमें निष्णातहै उस से उसी विषयका प्रश्न करना चाहिए क्योंकि तत्सम्बन्धी भाषण करनेमें उसे एक प्रकारका आनन्दहोगा, और पूँछनेवालेका ज्ञानभी सतत बढता रहैगा। परन्तु त्रासदायक प्रश्न करना उचित नहीं। एतादृश व्यवहार दूसरे की बलात् परीक्षा लेने की इच्छा रखनेवालोंही को शोभादेताहै।

बोलनेके समय सदैव अपनेही घोड़े को आगे न दौड़ाना चाहिए; जिसमे दूसरोंकोभी कुछ कहने का अवसर मिलै ऐसा करना परमावश्यक है। यदि किसी ऐसे धृष्टसे काम पड़े जो सारा समय अपनेही भाषणमें व्यतीत करना चाहता हो तो—जैसे देरतक निरर्थक नाचनेवालों को गायक रोक देते हैं—तैसेही उसे युक्तिसे स्तंभित करदेना चाहिए।

लोग जिस बात को समझते हैं कि तुम जानतेहो, उसे यदि तुमने एक बार उनसे छिपाया, तो दूसरी बार जो तुम नहीं जानते, उसे तुम जानतेहो, यह वे लोग अवश्य समझेंगे। अपने विषयमें मनुष्यको कम बोलना चाहिये। हमारे परिचयका एक पुरुष इसप्रकार तिरस्कार युक्त वचन कहा करताथा "वह मनुष्य अपने विषयमें बहुत कुछ बोलता है, अतः उसे बुद्धिमत्ता सीखनी चाहिये"। मनुष्यके लिये आत्मश्लाघा करनेका एक मात्र प्रशस्तमार्ग यह है कि वह दूसरो के सद्गुणोकी प्रशंसा करै और विशेष करके ऐसे सद्गुणों की जो अपनेमें वास करतेहो। ऐसा करनेसे अपनी स्तुतिकी स्तुति होजाती है और सुननेवालोको बुराभी नहीं लगता। दूसरोंको जो बुरी लगै

ऐसी बात बहुत शोच विचार कर कहनी चाहिये। भाषण एक विस्तृत मैदान के समान है; उसका सम्बन्ध किसी एक व्यक्तिसे नहीं है।

अस्खलित वक्तृत्व की अपेक्षा सदसद्विचारयुक्त भाषणका माहात्म्य अधिक है ; और सुसंगत और रमणीय भाषण की अपेक्षा जिससे बोलते हैं उसे अच्छालगनेवाले भाषणका माहात्म्य अधिक है। जिसे अस्खलित और मनोहर भाषण करना आता है, परन्तु प्रतिपक्षी के द्वारा किसी शंकाकी उद्भावना होनेपर, तन्निराकरण विषयमें अच्छा बोलना नही आता, उसका भाषण बुद्धिमांद्यबोधक समझना चाहिये। उसी भाँति जिसे शंका समाधान तो अच्छेप्रकार करना आताहै, परन्तु पूर्वपक्षनिरूपक विशदभाषण करना नहीं आता, उसका भाषण अल्पज्ञता और असमर्थता सूचक जानना चाहिये। यह बात पशुओंमें भी पाईजातीहै। जो दौड़नेमें प्रवीण नहीं हैं वे कैंची काटनेमें कुशल हैं। उदाहरणार्थ शिकारी कुत्ता और खरगोश।

मुख्य विषयका प्रारम्भ करनेके पहिले अनेक बातोंका उल्लेख करके लम्बी प्रस्तावना कहना रोचक नहीं होता; परन्तु नितान्त न कहनाभी अच्छा नहीं लगता।

संशय १०.

नाविश्वासाद्विन्दतेऽर्थानीहन्ते नापि किंचन।
भयाद्येकतरान्नित्यं मृतकल्पा भवन्ति च॥[1]

महाभारत.

सायंकाल-अर्थात् जिस समय कुछ अन्धकार और कुछ प्रकाश रहता है-जैसे चिमगादड़ अपने रहनेके वृक्षको छोड़ इतस्ततः उड़ने लगते हैं वैसेही जिस मनुष्य में ज्ञानका प्रकाश और अज्ञान का

१ अविश्वाससे अर्थ की प्राप्ति नही होसकती, और जो हो भी सकती है तो जो विश्वासपात्र नही है उससे कुछ लेने को जी ही नही चाहता; अविश्वास के कारण सदा भय लगा रहता है, और भय से जीवित मनुष्य मृतक के समान होजाता है।

अन्धकार दोनों रहते हैं उसके मन में संशय उत्पन्न होता है। संशय उत्पन्न होतेही उसे वहां का वहीं दबा देना चाहिये; परन्तु यदि ऐसा न होसकै तो उसके ऊपर तीव्र दृष्टि तो अवश्यही रखनी चाहिये; क्योंकि संशय के कारण बुद्धि भ्रमिष्ट होजाती है; मित्रों में भेदभाव उत्पन्न होता है और काम काज में प्रतिबन्धकता आती है; जिससे व्यवहार भलीभांति नहीं चलता। संशय से राजा लोग न्यायको छोड़ अन्याय परायण होजाते हैं; पत्नी से पति मत्सर करने लगते हैं; और बुद्धिमान् मनुष्य भी अनिश्चित वृत्ति और उदासीनता को धारण करते हैं। संशय हृदय में नहीं उत्पन्न होता किन्तु मास्तिष्क में उत्पन्न होता है; इस लिये उसका प्रादुर्भाव इंगलैंड के राजा सप्तम हेनरी के समान धृष्ट और बलिष्ट पुरुषों में भी होता है। इस राजा से अधिक धृष्टस्वभाववाला और साथही संशययुक्त और कोई नही हुआ। संशयका अवतार जहां ऐसे ऐसे पुरुषोंमें होताहै, वहां वह बहुत कम हानि पहुँचा सकता है, क्योंकि इसप्रकारके लोग संशयकी सत्यता अथवा असत्यताको परीक्षा द्वारा निर्णय करके काम करते हैं; परन्तु भीरुस्वभावके जो लोग हैं उनमें इसका प्रवेश बहुतही शीघ्र होताहै। किसीभी विषयका पूर्ण ज्ञान नहोनेहीसे संशयकी उत्पत्ति होती है। इस लिये संशयको यथावत् मनमें न रखकर तत्सम्बन्धी अधिक ज्ञान सम्पादन पूर्वक उसका निराकरण करनाहीं समुचित है।

मनुष्य चाहते क्या हैं? क्या वे यह समझतेहैं कि जिनसे वे व्यवहार करते हैं अथवा जिनको वे नौकर रखतेहैं वे सब साधु हैं? क्या वे यह नहीं जानते कि ऐसे लोग उनके हित की अपेक्षा अपना हित साधनमें विशेष तत्पर रहैंगे? क्या उन्हैं अपना स्वार्थ नहीं सूझता? अतएव सबसे उत्तम बात यहहै, कि संशयको सत्य समझना चाहिये; परन्तु मनमें उसे असत्य निग्रह पूर्वक अपने काम काज करने चाहिये, क्योकि ऐसा करनेसे संशयके ऊपर अपनी सत्ता बनी रहती है। तथापि संशयके सत्य होने पर तज्जन्य अपायोसे बचनेके

लिये मनुष्यको पहिलेहीसे उसका प्रतीकार सोच रखना चाहिये । जो संशय स्वयमेव मनमें उत्पन्न होजाते हैं वे मधुमक्षिकाकी भनभनाहटके समान समझने चाहिये; उनसे कोई हानि नहीं पहुँचती । परन्तु जो संशय, दूसरे लोग, नानाप्रकारकी उलटी सीधी बातैं सुझाकर, मनुष्यके मनमें उत्पन्न करदेते हैं वे डंक के समान लगते हैं अर्थात उनसे अवश्यमेव अनिष्ट होता है ।

जिसके विषय में संशय उत्पन्न हुआ है उससे अपने मनकी बात को स्पष्टतापूर्वक कहदेनाही संशय के नाश करने का सर्वोत्तम उपाय है । ऐसा करने से सत्य क्या है यह पहले की अपेक्षा अधिक समझ मे आजाता है, और जिसके ऊपर संशय उत्पन्न हुवा है वह मनुष्य उस दिनसे पुनर्वार संशयात्मक काम न करने के लिये सावधान होजाता है । परन्तु जो मनुष्य अत्यन्त नीच स्वभाव के हैं उनसे इस प्रकार का वर्त्ताव न करना चाहिये, क्योंकि उन्हैं यह समझ जाने पर कि हमारे ऊपर संशय आया है, फिर वे कदापि प्रामाणिक व्यवहार नही करते । इटली में एक कहावत प्रसिद्ध है, जिसका यह अर्थ है कि "संशय से विश्वास घटता है" परन्तु सच पूँछिये तो इसका विपरीत अर्थ करना चाहिये क्योंकि संशय उत्पन्न होने पर उसे निर्मूल सिद्ध करने के लिये विश्वास की और भी अधिक वृद्धि होती है ।

संतान ११.

धूलिधूसरसर्वाङ्गो विकसद्दन्तकेसरः ।
आस्ते कस्याऽपि धन्यस्य द्वारि दन्ती गृहेऽर्भकः ॥

कल्पतरु.

माता पिता का सन्तान सम्बन्धी आनन्द जैसे गुप्त रहता है उसी प्रकार तत्सम्बन्धी दुःख और भय भी गुप्त रहते हैं । माता पिता अपने

---

१ धूलि जिसके सर्वांग में लिपट रही है और दन्त रूपी केसर जिसके खिल रहे हैं—द्वार पर ऐसा गज, और घरमें ऐसा बालक, किसी किसी धन्यही के यहां होता है; सबके यहां नही ।

आनन्द का उल्लेख स्पष्ट रीति पर नहीं करसकते; और खेद तथा भय को भी सब से नहीं प्रकाशित करसकते। सन्तति के कारण संसार यात्रा के श्रम विशेष आयास–कर नहीं जान पड़ते; परन्तु उसके कारण विपत्ति अवश्य असह्य होजाती है। लड़के वाले होने से सांसारिक चिन्ता बढ़ती है; परन्तु उनको देखकर मृत्यु का भय कम होजाता है। सन्तति को उत्पन्न करके वंश वृद्धि पशु भी करते हैं; परन्तु सद्गुण और सत्कार्य इत्यादि सम्पादन करना मनुष्यही का काम है। हम देखते हैं, कि जिनके सन्तान है उनकी अपेक्षा निःसन्तान मनुष्य विशेष उदारता दिखाते हैं, और अधिकतर महत्कार्यों का आरम्भ करने में समर्थ होते हैं। इसका यह कारण बोध होता है, कि ऐसे ऐसे पुरुष सन्ततिरूपी अपने शरीर का प्रतिबिम्ब प्रतिफलित करने में असमर्थ होने से अनेक यशःप्रद और चिरस्मरणीय कृत्य रूपी अपने अन्तःकरण के प्रतिबिम्ब को प्रकाशित करके लोकान्तरित होते है। अतएव यह कहना चाहिये, कि जिनके आगे कोई नहीं है उनको आगे की अधिक चिन्ता रहती है। जो लोग अपने घराने में प्रथमही प्रथम नामांकित होते हैं वे अपने लड़कों का अत्यधिक प्यार करते हैं, वे समझते हैं कि हमारे पश्चात् ये लड़के हमारी वंशपरम्परा को भी चलावैंगे और साथही जो नाम हमने सम्पादन किया है उसे भी चिरायु रक्खेंगे।

कई लड़के होने से माता पिता का स्नेह सब पर समान नही होता। यही नही किन्तु कभी कभी स्नेह का स्वरूप भी अनुचित होजाता है। प्रेम प्रकाश करने में माता विशेष पक्षपात करती है। सालोमन ने कहा है कि "बुद्धिमान् पुत्र पिता को प्रसन्न करता है और दुराचारी पुत्र माता को लज्जित करता है" जिसका यह तात्पर्य है कि पिता के यत्न से पुत्र विद्वान् होता है और माता के अनुचित लालन से वह दुर्वृत्त होजाता है। जहां बहुत लड़के होते हैं वहां देखते हैं कि एक दो जो बड़े हैं उनका तो आदर होता है; और

सबसे जो छोटे हैं उनका लाड़ प्यार होता है; परन्तु मझले लड़को को कोई पूँछता भी नहीं । तथापि यही मझले लड़के वयस्क होने पर बहुधा समाज में गणनीय और माननीय होते हैं ।

उचित कार्य में उठाने के लिये लड़कों को पैसा देने में माता पिता को कार्पण्य न करना चाहिये । कार्पण्य करने से अनेक अनिष्ट होते हैं । पैसा न पाने के कारण लड़के दुर्वृत्त होजाते हैं; अपहरण करना सीख जाते हैं; नीच लोगों के साथ उठने बैठने लगते हैं; और रुपया पैसा पाने पर अत्यन्त उच्छृंखलता धारणपूर्वक विषयासक्त होजाते हैं । अतएव माता पिता को अपनी सन्तति के ऊपर दृष्टि रखनी चाहिये—यह सत्य है, तथापि बाल्यस्वभावसुलभ उनके मनोरथ पूर्ण करने के लिये पैसे की भी, उपाय भर, उन्हें कमी न पड़ने देना चाहिये । यही उत्तम मार्ग है ।

बाल्यावस्था में माता, पिता, शिक्षक अथवा सेवक लोग बहुधा भाई भाई में परस्पर की स्पर्धा उत्पन्न करदेते हैं और उसे उत्तेजित भी करते रहते हैं । यह भारी भूलहै । इससे भ्रातृस्नेह में त्रुटि आती है और लड़कों के बडे होनेपर गृह–विच्छेद होनेका बीज उत्पन्न हो जाता है । इटली के निवासी अपने लडकों मे, अपने भतीजों में अथवा अपने निकटवर्त्ती संबन्धी जनों के लडकों में बहुत कम भेदभाव रखते हैं । वे सब लडके एकही कुटुंब के मात्र होने चाहिये; एक कोख के होने अथवा न होने का विचार वह कुछ भी नहीं करते । यही नियम प्राकृतिक जान पड़ता है, क्योंकि हम देखते हैं कभी २ लडके अपने माता पिता के अनुरूप न होकर अपने चचा अथवा अपने किसी और निकट संबन्धी के समान होते हैं ।

बाल्यकालही में अपने लडकों के लिये अभिमतवृत्ति और व्यवसाय का निश्चय करके माता पिताको तभी से तदनुसार शिक्षा प्रारंभ करनी चाहिये; कारण यह है, कि उससमय लडकों की प्रकृति अति कोमल होतीहै; अतः इच्छानुकूल विषय कीओर विशेष क्लेशके विनाही वह प्रवृत्त

हो जाती है। लडकपनमें लडकोंकी रुचि जिस ओर अधिक होती है उस कामको आगे वे अनायासही उत्साहके साथ करैंगे--यह विचार कर उनके स्वभाव और उनकी अभिरुचिका शोध करनेके झगडेमे न पड़ना चाहिए। यह सत्यहै कि, लडकोंकी प्रवृत्ति अथवा बुद्धिवैलक्षण्य किसी कार्य विशेष में यदि अत्यधिक देख पडे तो उनका प्रतिरोध न करना चाहिए; परन्तु सामान्य नियम यह है, कि जिस वृत्तिका अवलंबन करनेसे आगे विशेष वैभव और मान मर्यादा बढने की आशा है उसी की ओर उन्हें प्रवृत्त करदेना चाहिए। ऐसा मार्ग प्रारंभ मे यदि कष्टसाध्य भी हुआ तो अभ्यास करते करते कुछ दिनमे वह सुखसाध्य हो जाता है।

बहुशः छोटे भाई अधिक भाग्यवान् होते हैं; परन्तु जहां वडे भाई पैतृक सम्पत्ति पानेसे वंचित करदिए जाते हैं वहां छोटे भाई क्वचितही ऊर्जित दशाको पहुँचते हैं; अथवा यही क्यों न कहैं कि, कभी भी नहीं पहुँचते।

स्वार्थपरता १२.

तृणं चाहं वरं मन्ये नरादनुपकारिणः।
घासो भूत्वा पशून्पाति भीरून्पाति रणाङ्गणे॥

शार्ङ्गधरपद्धति.

दमिक अपने आपके लिए अपने काम में चतुर होता है; परन्तु फलोत्पादक अथवा सामान्य वाटिकाको वह हानि पहुँचाता है। इसी प्रकार जो मनुष्य अत्यन्त स्वार्थ प्रिय होतेहैं वे सार्वजनिक कामोको विगाड़ देतेहैं। स्वहित और समाजहितमें सुविचारपूर्वकभेद करनाचाहिए। अपना हित साधन करनेके लिए चेष्टा करना किसी प्रकार दूषणीय नहीं, परन्तु स्वेष्टसाधनमें दूसरों का और विशेष करके अपने देश तथा अपने

१ परोपकार न करने वाले स्वार्थपर मनुष्यसे हम तृणको अच्छा समझतेहैं क्योंकि तृणसे पशु अपना उदर तो पोषण करतेहै और रणक्षेत्रमें भयभीत हुए जन उसे मुखमें दाव शत्रुओंसे अपने प्राण तो बचातेहैं।

राजाज्ञा जिसमें अनिष्ट न हो वही करना उचित है । अपनेही को केन्द्र कल्पना करके स्वार्थ के लिएही सदैव पुरुषार्थ करना अत्यन्त निंद्य है । इस प्रकारका व्यापार-अपने को केन्द्र मानना-यह जडात्मक पृथ्वी भी करती है । केवल वही अपने केन्द्रके चारों ओर फिरती है; शेष सारेग्रह और उपग्रह जिनका कुछ भी योग आकाशसे है वे दूसरेहीं के केन्द्र के चारों ओर घूमते और उन्हींको लाभ पहुँचातेहैं।

यदि राजा स्वार्थपरायण हुवा तो उससे उतनी हानि नही होती क्योकि उसका लाभ केवल उसीका लाभ नहीं है । राजाकी भलाई मे प्रजाकी भलाई है और उसकी बुराई में प्रजाकी बुराई है, परन्तु राज पुरुषो में अथवा प्रजासत्तात्मक देशके किसी नागरिक अधिकारी में स्वार्थपरता होनेसे घोर अनर्थ की संभावना रहती है । कारण यह है, कि ऐसे ऐसे पुरुषोंको जो कुछ करना पडेगा जो वे अपने स्वार्थ साधनकी ओर झुकावेंगे और उनका स्वार्थ राजा अथवा देशके स्वार्थ से अवश्यमेव भिन्न होगा । अतएव, एक व्यक्तिके हितके लिए समग्र देशका अनहित होजायगा । इस लिए राजाओं और प्रजासत्तात्मक संस्थानोंको, स्वार्थ परताका दुर्गुण जिनमें न हो, ऐसे अधिकारी ढूँढकर रखने चाहिए । परन्तु अधिकार द्वारा स्वार्थसाधनही के लिए यदि राजाने किसी की नियुक्तताकी हो तो वह बात दूसरी है। स्वामी और सेवक के हितका प्रमाण जहां लुप्तप्राय हो जाताहै वहां स्वार्थपरता से और भी भयंकर अनर्थ होते हैं । स्वामीके हित की अपेक्षा अपने हितकी ओर विशेषदृष्टि रखनेही में पहिले अधर्म है; फिर अपने थोडेसे लाभके लिये स्वामी को भारी हानि पहुँचाने में तो अधर्म की सीमाही नहीं । अब देखिये ऐसे कृत्यों में कितना प्रमाणवैषम्य है । तथापि अनेक उच्चपद, कोषाधिकार, सैनापत्य, दौत्य इत्यादि गुरुतर-भार जिनके ऊपर न्यस्त हैं वे तथा अन्य दुर्वृत्त और उत्कोचग्राही राज पुरुष ऐसेही होते हैं । ऐसे ऐसे लोग अपने अत्यल्प लाभ के लिये स्वामी के बडे बडे और महत्वपूरित कार्यों को भी बिगाडने से नहीं

हिचकते। एतादृश जघन्यकृत्य करके जो लाभ राजपुरुष उठाते हैं वह लाभ उनकी योग्यता के अनुसार थोडाही होता है; परंतु उस लाभके परिवर्तन में अपने स्वामी को जो हानि वे पहुँचाते हैं उस हानिका परिणाम स्वामी की योग्यतानुसार अवश्य अधिक होता है। सत्यतो यह है कि, अत्यन्त स्वार्थप्रिय मनुष्यों का स्वभावही ऐसा होता है, कि वे क्षणभर शीत से बचने के लिये पडोसी के घर को जलानेसे नहीं संकुचते। यह सब होने पर भी ऐसों से स्वामी बहुधा सुप्रसन्न रहते हैं क्योंकि ये लोग अपना इष्ट साधन के लिये स्वामी की प्रसन्नता सम्पादन करने में कभी भी त्रुटि नहीं करते। अतएव स्वामी को प्रमुदित रखने और स्वयं लाभ उठाने के लिए उसके लाभ को रसातलमें पहुँचाने से वे पश्चात्पद नहीं होते।

स्वार्थसाधन के लिये बुद्धिमानी दिखाना अतिशय गर्ह्य काम है। चूहों की बुद्धिमानी ऐसीही है; जब घर गिरने लगता है तब वे निकल जाते हैं। लोमडीका भी स्वभाव इसी प्रकार का है; वह दूसरे के खोदेहुए बिलमें प्रवेश करके खोदनेवालेही को निकाल देती है। मगर भी ऐसेही होते हैं; जीवों के निगल जाने के पहिले वे रोने लगते हैं। जैसा सिसरोने पांपेके विषयमें कहाहै, एक बात यह अवश्य ध्यान में रखनी चाहिये कि आत्मंभरि और स्वार्थपर मनुष्यों का कभी अभ्युदय नहीं होता। वे यह समझते हैं कि हमने अपने चातुर्यसे लक्ष्मी रूपी पक्षीके पक्ष अति दृढतापूर्वक बांधकर उसे अपने घररूपी पिंजरे में

---

१ सिसरो रोममें एक अत्यन्त प्रभावशाली वक्ता और तत्त्ववेत्ता होगया है। उसके राजकीय व्यवहारों से अप्रसन्न होकर ईसवी सन्के ४३ वर्ष पहिले ६२ वर्ष के वयमें उसे कई राजपुरुषोंने मिलकर मारडाला।

२ पांपी रोमका एक प्रख्यात सरदार और सेनापतिथा। राजाके प्रतिकूल सिर उठानेके कारण ५९ वर्षकी अवस्थामें ईसवी सन्के ४८ वर्ष पहिले राजकीय पुरुषोंने विश्वासघात करके उसे मारडाला।

सुरक्षित रख लियाहै; परन्तु दूसरोंका अनिष्ट और अपना इष्ट साधन करते करते अन्तमें वह चंचलालक्ष्मी उन्हें धूल में मिलाकर न जानें किस मार्गसे कहां निकल जाती है।

शिष्टाचार और मान १३.

तिष्ठतां तपसि पुण्यमासृजन् सम्पदोऽनुगुणयन्सुखैषिणाम्।
योगिनां परिणमन्विमुक्तये केन नाऽस्तु विनयः सतांप्रियः।

किरातार्जुनीय।

जिस रत्नको कुन्दन करनेकी आवश्यकता नहीं पडती वह जैसे अवश्यमेव बहुमूल्य होता है, वैसेही जो मनुष्य औरोंके आचार व्यवहार पर ध्यान न देकर मनमानी चाल चलता है वह विलक्षण गुणवान् होता है। तथापि साधारणतया मनुष्यको सामाजिक रीत्यनुसारही शिष्टाचारसम्मत व्यवहार करना उचित है। विचार करनेसे यह स्पष्ट हो जायगा कि, स्तुति और प्रशंसा तथा लाभ और प्राप्ति ये बहुत करके परस्पर तुल्य हैं। कहावत सत्य है कि थोड़ी थोड़ी प्राप्तिसे कालान्तरमें बहुत कुछ इकट्ठा हो जाता है क्योंकि अल्पलाभ वारंवार हुआ करते हैं भारीलाभ कभी कभी किसी विशेष अवसर पर होते हैं। प्रशंसाकाभी यही नियम है। छोटे मोटे कामोमें प्रशंसा होते होते मनुष्यको अधिक मान मिलने लगता है, क्यों-

---

१ लक्ष्मीके चंचलत्वपर एतद्देशीय अनेक कवियोंने अनेक प्रकारकी उक्तियां कही हैं उनमेंसे एक संस्कृत कवि कहता है:—

या स्वसद्मनि पद्मेपि सन्ध्याकाले विजृम्भते।
इन्दिरा मन्दिरेऽन्येषां कथं स्थास्याति निश्चला॥१॥

अर्थात् जो लक्ष्मी, और कही की कौन कहै अपने घर, कमलमें भी केवल सायङ्काल, सोभी क्षणमात्र के लिये आतीहै वह दूसरों के घरमे भला कव निश्चल होकर रहैगी? सायङ्काल लक्ष्मीका कमलमें वास करना कविसमयसिद्ध है।

२ तपस्वी जनोंके लिए पुण्यका सम्पादन करनेवाला, सुखकी इच्छा रखने वालोंके लिए सम्पदाओंका देनेवाला, योगियोंके लिए मुक्तिका मार्ग दिखाने वाला ऐसा यह विनय—सौशील्य—सज्जनोंको क्यों न प्रिय हो?

कि ऐसे काम नित्यही पडा करते हैं, और नित्यही लोगों की दृष्टि उनकी ओर आकर्षित हुवा करती है। परन्तु विशेष सद्गुण प्रकट करनेका पर्वकाल कभी कभी आता है। अतएव शालीनता और विनयसंपन्न होने से मनुष्यकी प्रतिष्ठा प्रतिदिन बढती है। सभ्यता का व्यवहार मनुष्य की मानवृद्धि के लिये मानो स्वयंभू सर्टीफिकेट हीं है। इस व्यवहारके सीखने में कोई कष्ट उठानेकी आवश्यकतानही पड़ती। अवहेलना न करके उसके अनुसार वर्त्ताव करनाहीं बसहै। केवल इतनाहीं देखना चाहिए कि और लोग किस प्रकारकी रीतिका अवलंबन करतेहैं; शेष सब आपहीं आप आजाता है। शिष्टाचार स्वभाव सिद्ध होना चाहिये जिसमे औरोंको यह न भास हो कि ऊपरी मन से ये हमारा आदर सत्कार करते हैं; ऐसा होनेसे उपचारकी सारी शोभा जाती रहतीहै। जिस प्रकार छन्दःशास्त्रमें प्रत्येक वृत्तके अक्षर गिने हुए होते हैं, वैसेही किसी किसी मनुष्यके वर्त्ताव मे भी सब बातैं नियमित होतीहैं। सच है; जो मनुष्य छोटी मोटी बातोंकी ओर विशेषध्यान न देगा वह वडे बडे महत्वपूरित कार्यों को कैसे कर सकैगा?

दूसरोंका शिष्टाचार न करना मानो उन्हैं यह सिखाना है कि वे भी जब तुमसे मिलैं तब तुम्हारा आदरसत्कार न करैं। ऐसा होनेसे अवश्य अपना मान कम होगा। अपरिचित और आदरप्रिय जनोंका सत्कार विशेष करके करना उचित है; परन्तु अत्यधिक शिष्टाचार करने अथवा आकाश पाताल दिखानेसे जी ऊब उठता है; और यही नही किन्तु सत्कार करनेवाले के सद्भाव की भी शंका आती है। उस समय यह स्पष्ट होजाता है कि बोलनेवाला बनावटी लल्लोपत्तो कर रहा है। कोई कोई वाक्य ऐसे हृदयंगम हैं जिनका प्रयोग सभ्योपचार करते समय यथावसर करनेसे बहुतही अच्छा लगता है। जो समान शील और परिचित हैं वे अपनेसे अवश्यही निःशंक और शुद्ध व्यवहार करैंगे; अतः उनसे वार्त्तालाप करने में कुछ भव्यता दिखानी चाहिए। जो अपने से कम योग्यता रखनेवाले हैं वे अपना

सत्कार करेंहोंगे, इसलिए उनसे आत्मत्व प्रकट करते हुए सस्नेह भाषण करना अच्छा है। सभीका अत्यादर करनेसे और योग्यायोग्य का विचार न करके सभीको सभी काम करनेकी आज्ञा देनेसे मनुष्यका मान कम होजाता है। दूसरे लोगोंसे उनका अभिप्राय पूँछना उचित है; परंतु पूंछते समय ऐसा भास न होना चाहिए कि यह मनुष्य इस बातको अन्तःकरणसे बुद्धिपूर्वक नही, किन्तु योंहीं, पूंछता है। दूसरोके कथनका अनुमोदन करना अच्छा है, परन्तु हां में हां मिलाते समय कुछ अपनी ओरसेभी मिला देना चाहिए। उनके मतको स्वीकार करना हो तो वैसा करते समय कुछ भेद रखना चाहिये। उनकी प्रवृत्त की गई कोई बात माननी हो तो अपनी ओर से एक आध 'यदि' 'परन्तु' लगा देना चाहिये। तथैव उनके द्वारा निश्चित की गई कोई व्यवस्था अंगीकार करनी हो तो उसकी पुष्टिके लिये अपना हृद्गत कारण व्यक्त करना चाहिए।

शिष्टाचारका अनुसरण करनेमें मनुष्यको उसकी सीमाका अतिक्रमण करना योग्य नहीं है। अत्याधिक उपचार करनेसे जो लोग द्वेष करने लगते हैं वे अन्य सद्गुणोकीओर किंचिन्मात्र भी ध्यान न देकर, यह कहने लगतेहैं, कि अमुक मनुष्यकी जो इतनी मानमर्यादा बढी है वह केवल मिष्टभाषण और शिष्टाचार का फल है। कामकाज के समय अत्यन्त आदरसत्कारपूर्वक वर्त्ताव करने अथवा अति सूक्ष्मतया समय और प्रसंग ढूंढते रहने से हानि होती है। सालोमन ने कहा है कि "जो मनुष्य इसीविचार में रहता है कि वायु किस ओर बहताहै वह खेत बोने मे कभी समर्थ नहीं होता और जो मेघमंडल को देखनेही में लगा रहता है वह खेत काटने मे समर्थ नहीं होता"। जो बुद्धिमान् होते हैं वे सहजही प्राप्तहुए प्रसंगों की अपेक्षा अपनी बुद्धिसे अधिक प्रसंग उत्पन्न करते हैं। मनुष्यों का वर्त्ताव उनके पहिनने के कपडों के समान होना चाहिए। कपडों के ढीले ढाले होने से जैसे हाथपैर अपना अपना काम विना प्रयास के यथोचित कर सकते हैं; संकुचित नहीं रहते;

वैसेही मनुष्य को अपना वर्त्तीव भी रखना चाहिए। सगर्व और उद्दंड वर्त्तीव न होना चाहिए किन्तु सरल और विनीत होना चाहिए।

अरोग्यरक्षा १४.

नित्यं[१] हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावानाप्तोपजीवी च भवत्यरोगः॥

वाग्भट।

शास्त्र में स्वास्थ्यरक्षा के अनेक नियम कहेहैं; परन्तु बुद्धिमान को अपने आपही अपने लिए नियम निश्चय कर लेने चाहिये; यह सबसे उत्तम है। किस प्रकारका आहार विहार करने से प्रकृति स्वस्थ रहतीहै, और किस प्रकारका करनेसे स्वस्थ नहीं रहती, इसका विचार प्रत्येक मनुष्यको करना उचितहै। हां, एकवात यह अवश्य ध्यानमें रखनी चाहिये, कि जिससे कोई अपाय तत्काल नहीं देखपडता उसे बराबर सेवन किए जानेकी अपेक्षा जो किंचिन्मात्रभी अनिष्टकर देखपडै उसे तत्क्षण त्याग करना चाहिए। युवावस्थामें मनुष्य अधिक सशक्त होताहै इस लिए अनेक दुराचरण करने परभी उनसे उस समय उसे कोई हानि नहीं पहुंचती, परन्तु वही दुराचरण वीज रूप होकर जरा-वस्थामें नानाप्रकारके रोग उत्पन्न करतेहैं। अतएव वृद्धापकाल का विस्मरण न होने देना और तारुण्यमें जो कुछ कियाहै उसे फिर करनेका साहस न करना चाहिये; क्योंकि जरावस्थाकी अवहेलना करनेसे काम न चलैगा। आहारमें अकस्मात् परिवर्तन न करो। यदि परिवर्तन करनाही अत्यावश्यक हो तो तदनुरूप अन्यान्य विषयो मे भी परिवर्तन करो। सृष्टि और राज्यव्यवस्थाके नियमों का यह गुह्य है कि एककी अपेक्षा अनेक वातों में फेरफार करना विशेष सुरक्षित होता है।

---

१ जो मनुष्य हितकर आहार और विहारका सेवन करताहै; प्रत्येक कामको सोच समझकर करताहै; विषयोंसे अलग रहताहै; दानशील तथा क्षमावान् होताहै; सत्यबोलताहै सर्वदा समभावका विचार रखताहै और आप्तजनोंकी सेवामें तत्पर रहताहै उसे कभी रोग नहीं सताता।

आहार, निद्रा, व्यायाम और वस्त्राभरण इत्यादिकी व्यवस्थाकी परीक्षा करके देखो कि उनमें किसी से किसी प्रकार तुम्हें असुविधा तो नहीं होती, और यदि होती है तो धीरे धीरे उसे छोड देनेका अभ्यास करो। परिवर्तन इस प्रकार करना चाहिए कि यदि वह सहन न हो तो पुनर्वार छोडे हुए पहिले क्रम के अनुसार तुम अपनी दिनचर्या को नियमित करसको, क्योंकि जो बातें साधारणतः मनुष्योने अच्छी और आरोग्यकारक मान रक्खी हैं वे तुम्हारी प्रकृतिको भी हितावह होंगी यह स्थिरकरना कठिन है।

आहार, निद्रा और व्यायामके समय मनुष्यको स्वस्थचित्त, प्रसन्न और प्रफुल्ल रहना चाहिए। ऐसा करने से आयु बढती है। मानसिक विकारों में से असूया, उत्कटभय, मनका मनही मे क्रोध, अत्यन्त गहन और क्लिष्ट शास्त्रीय मीमांसा, अत्यधिक आनन्द तथा अत्यधिक उल्लास और अनिवेदित दुःख—इन सबका, प्रयत्नपूर्वक, परिहार करना चाहिए। बहुत हँसनेकी अपेक्षा विनोदशील होना चाहिए। एकही आमोद के व्यसनी न होकर अनेक सुखप्रद पदार्थोंका सेवन करना चाहिए। जिनसे चित्तको चमत्कार और आनन्द दोनो प्राप्त हो ऐसी नई नई वस्तु देखनी चाहिए। जिनकी पर्य्यालोचना करनेसे मनोवृत्ति विकसित और उदात्त रस से आप्लुत हो जावै ऐसे ऐसे इतिहास, उपाख्यान तथा विश्ववर्णन सदृश उत्तमोत्तम विषयो का अभ्यास करना चाहिए।

ओषधियो का सेवन कभी भी न करनेसे नित्तान्त आवश्यकता होने परभी वे गुण नही करतीं। इसी प्रकार उन के खानेका सदैव अभ्यास रखने से भी रूग्णावस्था मे वे यथायोग्य फलप्रदनही होतीं। ओषधि सेवन करना यदि एक प्रकार का व्यसनही होगया हो तो दूसरीबातहै, नहीं तो पुनःपुनःउनके सेवन की अपेक्षा ऋतु ऋतु में समयानुसार आहार मे फेर फार करना उचितहै। इससे शरीर आरोग्य रहता है, और कोई पीडा भी नहीं होती। शरीर में कोई आकस्मिक विकार देखपडे तो

उसे तुच्छ न समझकर उस बातको जो जानते हों उनसे कहना चाहिए। रोग आनेपर आरोग्यता की ओर और निरोग होनेपर व्यायामकी ओर विशेष दृष्टि रखनी चाहिए।आरोग्यदशामें जो मनुष्य छोटे मोटे कष्ट सहनेका अभ्यास बनाए रखतेहैं वे जब सामान्यरीतिपर रोगग्रस्तहोतेहैं तब अनुकूल पथ्य और सेवा शुश्रूषाही से अच्छे होजाते हैं। रोममें सलसस नामक एक प्रख्यात वैद्य होगयाहै। वह चिकित्सा में तो अत्यंत निपुणथाही परन्तु विलक्षण बुद्धिमान भी था। उसका यह मत है कि एकहीबात को बराबर न करके परस्पर विरुद्धबातोंका फेरफार करते रहनेसे मनुष्य निरोग रहता है और दीर्घायु होता है। उदाहरणार्थः—कभी लंघन करना चाहिए, कभी पेटपर भोजन करना चाहिए; परन्तु लंघन कम करना चाहिए। कभी जागरण करना चाहिए, कभी स्वच्छन्द निद्रा लेना चाहिए; परन्तु जागरण कम करना चाहिए। कभी विश्राम लेना चाहिए, कभी व्यायाम करना चाहिए; परन्तु विश्राम कम लेना चाहिए। ऐसा करनेसे प्रकृति स्वच्छ रहतीहै और कष्ट सहन करनेका स्वभाव पड जाता है।

बहुतेरे चिकित्सक इतने मिष्टभाषी और रोगी की रुचिके अनुसार वर्त्तन करनेवाले होते हैं, कि वे रोगनाशक यथार्थ औषधिके सेवन करनेके लिए रोगी को कभी विवश नहीं करते। और अनेक ऐसे होतेहैं जो रोगीकी प्रकृतिका पूरापूरा विचार न करके, चिकित्सा करने में, शास्त्रोक्त पद्धतिका रेखामात्राभी अतिक्रमण नहीं करते; अतएव ऐसे चिकित्सक से चिकित्सा करानी चाहिए जिसमें उपरोक्त दोनोंगुण पाए जातेहो। यदि कदाचित ऐसा न मिलै तो दोनों प्रकारके दोचिकित्सक बुलाने चाहिए। परन्तु स्मरण रहै कि इन दोमें से एकतो ऐसा होना चाहिए जो रोगीकी प्रकृतिका भली भांति ज्ञान रखताहो, और दूसरा अपनी विद्या अर्थात वैद्यकशास्त्रमें निपुणहो।

यौवन और जरा १५.

न तेन वृद्धो भवति येनाऽस्य पलितं शिरः।
यो वै युवाऽप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥

मनुस्मृति।

जो मनुष्य वर्षों मे छोटा है, वह, यदि उसने अपना समय वृथा नष्ट नहीं किया, तो घंटों बडा हो सकता है। तात्पर्य यह है कि अल्पवयस्क होकर भी जिसने अपने अमूल्य समय का अपव्यय नहीं किया, उसके ज्ञानवृद्ध होने मे कोई आपत्ति नहीं आसकती; परन्तु यह बात बहुतकम पाई जाती है। मनुष्य के पहिले पहिल उत्पन्न हुए विचार जैसे आगे के विचारो की अपेक्षा निकृष्ट होते हैं वैसेही तारुण्य में वृद्धापकाल की अपेक्षा बुद्धिका विकास कम होताहै। वय का परिपाक न होने से ज्ञानका परिपाक नहीं होता; जैसे जैसे वयोवृद्धि होतीहै वैसे वैसे बहुदर्शिता भी बढ़ती जाती हैं; परन्तु नूतन वय में वृद्धावस्था की अपेक्षा अभिनव शोध निर्माण करने की शक्ति बलवती रहती है और कल्पनाओं के स्रोत मन में अधिक वेग से बहते हैं। जो मनुष्य पित्तप्रकृति के हैं और जिनका मन अति उच्छृंखल तथा जिनकी भोगवासना अति प्रबल होती है वे यौवन का उन्माद उतरने के पाहिले किसी सत्कार्य में अभिनिवेश करने के योग्य नहीं होते। रोम के सार्वभौम राजा जूलियस सीज़र और सेप्टीमियस सिवरस इसी प्रकार के थे। इनमे से दूसरे अर्थात् सेप्टीमियस सिवेरस के विषय में कहीं लिखा है कि उस ने अपना सारा वय सार्वजनिक कार्यों में शतशः भूल करने और तज्जनित पश्चात्ताप पाने में व्यतीत किया। परन्तु फिर भी यह कहना अत्युक्ति न होगी कि वास्तव में और सब राजाओं की अपेक्षा वही विशेष योग्य था। जो स्वभावतः शान्त और धीर होते हैं वे तरुणता मे भी अपना काम काज भली भांति कर सकते हैं।

---

१ 'केश पकजाने से कोई वृद्ध नहीं होता; युवा होकर भी जो बहुश्रुत और विद्वान् है उसीको देवता वृद्ध कहते है।

उदाहरणार्थ–रोम का राजा आगस्टस सीज़र, फलारेन्स का कास्मस ड्यूक; गास्टन डी फाइक्स इत्यादि । परन्तु यदि वृद्धवय में तारुण्य के समान ओजस्विता और उत्साह हो तो फिर क्या पूछना है ? सोने और सुगन्ध कासा मेल समझना चाहिये । तरुण मनुष्य विवेचना की अपेक्षा कल्पना करने में; किसी विषय में उपदेश देने की अपेक्षा कार्य करनेमे; और निश्चित व्यवसायमें लगनेकी अपेक्षा नई नई युक्ति निकालनेमें अधिकतर नैपुण्य दिखाते हैं । प्राचीनोंको काम काज करते करते जो अनुभव आताहै वह अनुभव तत्तत्कार्य करने में नवीनोंका मार्गदर्शक होताहै; परन्तु कोई नई बात उपस्थित होनेपर वृद्धोंके अनुभवका तरुणोंको तादृश उपयोग होना तो दूर रहा उलटा उससे उन्हे वंचित होना पड़ताहै।

तरुण मनुष्यकी भूलसे काम काजका सर्वनाश तक होजाताहै परन्तु वृद्धोंकी भूलका इतनाहीं परिणाम होताहे कि कार्य कम अथवा विलम्बसे होताहै। बस। तरुण मनुष्य जब किसी व्यवसाय में प्रवृत्त होतेहै तब जो वे कर नही सकते उसमेभी हस्ताक्षेप करते हैं; शान्त न रहकर निरर्थक चंचलता दिखातेहैं; अपनी सामग्री और क्रम इत्यादि का विचार न करके सहसा आकाश पाताल एक करने लगतेहैं; दो चार बाते जो इधर उधरसे सीखली हैं उन्हींके अनुसार व्यवहार करनेमे व्यग्र होतेहैं; कोई नवीन प्रकरण उपस्थित होने पर उसकी ओर ध्यान नही देते जिससे अनेक अज्ञात असुविधा उत्पन्न होतीहैं; और पहलेहीसे प्रचण्ड उपायोकी योजना आरम्भ कर देते हैं। सबसे बढकर आश्चर्य तो यह है कि इतना करकेभी वे अपनी भूल स्वीकार नही करते। जैसे नवीन घोडा न तो पीछे फिरताहै और न चुपचाप खडाही रहताहै वैसेही तरुण जनभी भूल करके न तो उसे मानते हैं और न पीछेही लेते हैं।

वृद्ध जन सभी कामोमें आपत्ति उत्थान करते हैं; परामर्श करनेमें बहुत काल व्यतीत करदेते हैं; साहसका काम करते डरतेहैं; पश्चात्ताप

शीघ्र पातेहै; आरम्भ किये गये कार्यका अन्त किये विनाही उसे बहुधा छोड देते हैं; और थोड़ीही सिद्धिसे समाधान मानतेहैं। अतएव युवा और जरठ दोनों अवस्था के मनुष्योंसे काम लेना सर्वोत्तम है। ऐसा करनेसे वर्त्तमान और भविष्यत् दोनों कालमे लाभ होगा; क्योंकि तरुणों की न्यूनता वृद्ध और वृद्धोंकी न्यूनता तरुण परिपूर्ण करैंगे, तथा वृद्धो से तरुण जन काम सीखकर आगे के लिए चतुर भी होजावेंगे। दोनों अवस्थावालों के मेल से वृद्धों की ओर अधिकार और तरुणो की ओर लोकप्रियता रहती है; इसलिए आकस्मिक विघ्नों से कार्य मे व्याघात नहीं आता। व्यवहार शास्त्र में वृद्ध विशेष आस्था व्यक्त करते हैं। लिखाहै कि "तुम्हारे तरुणजनों को दृष्टान्त और वृद्ध जनों को स्वप्न देख पडैंगे"। इस वाक्य से यहूदी जाति का एक महात्मा यह अनुमान करता है कि वृद्धों की अपेक्षा तरुण ईश्वर के अधिक सन्निकट हैं; क्योंकि स्वप्न से दृष्टान्त अधिक स्पष्ट होताहै। सत्यहै; मनुष्य को संसार का जितनाही अधिक अनुभव होताहै उतनाही विषय उसे अधिक मत्त करदेते हैं; अतएव यह सिद्ध है कि सद्वासना और प्रेमकी अपेक्षा सारासार विचारशक्ति को जरा विशेष वृद्धिंगत करती है।

कुछ लोग थोडेही वय मे वयोवृद्ध जनों के समान परिपक्वबुद्धिके होजाते हैं। उनकी बुद्धि का विकास वयस्क होने पर संकुचित होजाता है। इस प्रकार का मनुष्य रोम में हारमोजीनियस[1] नामक अलंकारशास्त्रवेत्ता होगया है, तत्कृत ग्रन्थ बहुतही उत्कृष्ट हैं; परन्तु अधिक वयमें उसकी बुद्धि कुंठित होगई थी। किसी किसीमें अस्खलित और मोहकभाषणके समान कोई २ ऐसे स्वाभाविकगुण होते हैं जो वृद्धावस्थाकी अपेक्षा

---

१ हारमोजीनियस दूसरी शताब्दी में हुवाहै। मरणोत्तर इसके शव की परीक्षा करते समय यह देखागया कि इसके विशाल हृदय के ऊपर केश उग आएथे। २५ वर्ष के वयमें इसकी स्मरणशक्ति जाती रहीथी।

युवावस्थामें विशेष शोभा देते हैं । इस कक्षा में हारटेन्शियस के समान पुरुषों का समावेश होताहै । कुछ इस प्रकारकेभी होते हैं जो अपने वयोमान की अपेक्षा ऊंचा उड्डान भरते हैं और विशेष भव्यता दिखाते हैं । सीपिओ आफ्रिकेनस ऐसाही था ।

सौन्दर्य १६.

रूपयौवनसम्पन्ना[3] विशालकुलसम्भवाः ।
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः ॥

हितोपदेश ।

सद्गुण, उत्तमता के साथ जडे हुए बहु मूल्य रत्न के समान है । यथार्थ में जो मनुष्य सुकुमार न होकर दर्शनीय है और जिसके शरीर मे सुन्दरता की अपेक्षा तेजस्विता विशेष झलकती है उसमें सद्गुण और भी अधिक शोभा पाते हैं । जो लोग बहुत सुस्वरूप होतेहैं उनमें सौन्दर्य के अतिरिक्त और कोई गुण बहुशः देखने में आते भी नहीं हैं. मानो ब्रह्मा ने विद्याविनय इत्यादि गुणों को देने के झगडे में न पड. कर सुन्दरताही के उत्पन्न करने में सारा परिश्रम किया है । इसीलिये ऐसे मनुष्य स्वरूपवान् तो होते हैं; परन्तु उनमें साहस तथा उत्साह नही होता और वे सद्गुण सम्पादन करने की अपेक्षा बोलचाल सुधारने की ओर विशेष ध्यान देते हैं । तथापि यह नियम सर्वव्यापी नही है । रोमका राजा आगस्टस सीज़र तथा टीटस वेस्पेशियानस, फ्रान्सका फिलिप लिबेल, इंग्लैंडका चतुर्थ यडवर्ड, एथेन्स का अलकि

---

१ हारटेन्शियस रोम का एक प्रख्यात वक्ताथा । इसने १९ वर्ष के वयमें अपनी अत्यन्त प्रभावशालिनी वक्तृता के कारण विशेष ख्याति लाभ की थी । सिसरो से ८ वर्ष पहिले इसका जन्म हुआ था ।

२ सीपिओ आफ्रिकेनस रोम में एक विख्यात सेनापति होगयाहै । इसने थोडेही वयमे बडे बडे पराक्रम के काम किए । ४८ वर्ष की अवस्था मे इसकी मृत्यु हुई ।

३ रूप और यौवन संपन्न होने तथा अच्छे कुल में जन्म लेने से भी विना विद्याके, सुवासहीन पलाश पुष्प के समान, मनुष्य शोभा नही पाते ।

वायडिस, फारस का इस्माईल सूफी—ये सब अपने समय में अत्यन्त सुस्वरूप होकर भी अत्यन्त धैर्यवान् और उत्साही थे। सौन्दर्य में वर्ण की अपेक्षा सुघरता का माहात्म्य अधिक है और तदपेक्षा सभ्य और मोहक गति का अधिक है। अलौकिक सौन्दर्य वही है जिसका चित्र नहीं खींचा जासकता; जिसमें कुछ न कुछ वैगुण्य न हो ऐसे निर्दोष सौंदर्यका होना असम्भवहै। यह कोई नहीं कहसकता कि अपेलिंज[1] और आलवर्ट ड्यूरर इन दो चित्रकारोंमें से किसकी योग्यता कमऔर किसकी अधिक थी। इनमेंसे एक तो रेखागणितके नियमानुसार चित्र खींचताथा और दूसरा अनेक सुस्वरूप जनोंके उत्तमोत्तम अवयवोंको देखकर चित्र निकालताथा। हमारी समझमे एतादृश चित्रोंको देखकर उनके बनानेवाले चित्रकारोंके अतिरिक्त और किसीको आनन्द न आवै। हम यह नहीं कहते कि जिसका चित्र चित्रकार उतारते हैं, उसकी सुन्दरताको,साधारणत वह जितनी है उससे अधिक, चित्रमें लानेका उन्हें प्रयत्न न करना चाहिये।

१ अपेलिज, मेसीडन के दिग्विजयी सिकन्दर का चित्रकार था। चित्रकला में यह इतना निपुण था कि इसको छोड़ अन्य चित्रकार को सिकन्दरके चित्र खींचने का अधिकारही न था। एक बार इसने एक ऐसा चित्र सिकन्दर का निकाला जिसे देख वह बहुतही प्रसन्न हुआ। अपेलिज ने पुनर्वार एक दूसरा भी फलक प्रस्तुत किया जिसमें सिकन्दर के घोड़े का चित्र था; इसकी सुघरता पर सिकन्दर ने कुछ असन्तोष प्रगट किया। दैवयोग से उसी समय एक घोड़ा पास से निकला जिसने चित्र गत घोड़े को सजीव समझ बड़े वेग से शब्द किया। इसपर चित्रकार बोल उठा "महाराज! जानपड़ताहै कि आपकी अपेक्षा इस घोड़े को चित्रकला का ज्ञान अधिक है"। सिकन्दर इस पर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने अपनी एक प्रियतमा का चित्र खींचने की आज्ञा दी; परन्तु खींचते खींचते अपेलिज महात्मा उस पर आसक्त होगये। यह बात जब सिकन्दर तक पहुँची तब उसने उचित अनुचित का विचार न करके उन दोनों का विवाह होजाने की अनुमति देदी।

करना चाहिये । परन्तु जैसे गायक लोग गानेमें अलौकिक मूर्च्छना निकालते हैं वैसेही चित्रमें चित्रकारको अपने विलक्षण कौशलद्वारा सौंदर्यातिशय उत्पन्न करना चाहिये; नियमोंके अनुसार खीचनेसे काम नहीं चल सकता। कभी कभी ऐसे चित्र देखनेमें आते हैं कि यदि उनके प्रत्येक अवयव की अलग अलग परीक्षा कीजाय तो उनमें से एक भी अच्छा न निकलै, परन्तु उन सबको एक साथ संयुक्त देखने से चित्रमें कोई दोष नही जान पडता।

यदि यह मान लियाजाय कि सौन्दर्य का विशेष अंश मर्यादशील गति और वर्त्तन ही में है तो वृद्ध मनुष्यों को भी सौन्दर्यवान् कहने में आश्चर्य करने की कोई बात नहीं; क्योंकि उनमें यह गुण विशेष करके और भी अधिक पाया जाता है। दुर्गुणों का त्याग किए विना थोडी अवस्था में सुन्दरता शोभा नहीं पाती; कारण यह है, कि सुन्दरता के लिये जिन जिन बातो की आवश्यकता होती है उनकी प्राप्ति वयोवृद्धि के साथ साथ हुआ करती है। सुरूपता ग्रीष्मऋतु के फलोके समान है—ऐसे फल जो बहुत दिन तक न रहकर शीघ्र बिगड़ जातेहैं। सौन्दर्य युवा मनुष्यों में अनेक दुर्व्यसन उत्पन्न कर देता है और बुढ़ापे में लज्जित करता है। परन्तु, हां, यदि सौन्दर्य लोकोत्तर हुआ तो उसके कारण सद्गुण विशेष शोभा पाते हैं और दुर्गुण दब जाते हैं।

कुरूपता १७.

विद्या रूपं कुरूपाणां क्षमा रूपं तपस्विनाम्।[1]

सुभाषितरत्नभाण्डागार।

कुरूप मनुष्य ब्रह्मासे बहुधा बराबरी का बर्त्ताव करते हैं। जैसे ब्रह्माने उन्हें कुरूप बनाकर उनके साथ अनुचित व्यवहार कियाहै वैसे ही वेभी अपने अनुचित आचरणद्वारा मानों उससे बदला लेते हैं; क्योंकि (जैसा धर्म्म ग्रन्थों में लिखा है) कुरूप मनुष्यों में प्राकृतिक प्रेम अर्थात मनुष्यके आवश्यक मनोधर्म बहुधा कम पायेजाते हैं। शरीर और

---

१ कुरूपों का रूप विद्या और तपस्वियों का रूप क्षमा है।

मनकी परस्पर ऐक्यता है। यदि इनमें से एक की प्रवृत्ति बुरे मार्ग की ओर होती है तो दूसरे की भी उसी ओर झुकती है। परन्तु मनुष्य में इतना शरीरसामर्थ्य है और मनोवृत्तियों के स्वीकार अथवा अस्वीकार करने का इतना अधिकार है कि शिक्षा और सद्गुण रूपी सूर्य के सन्मुख स्वाभाविकवृत्तिरूपी तारे बहुधा फीके पड़जाते है। इसलिये यह समझने की अपेक्षा कि कुरूपता धोखा खाने का एक चिह्न है, यह समझना अच्छा है, कि वह फल निष्पत्ति का आदि कारण है।

जिस कुरूप मनुष्यमे कोई ऐसा दुर्गुण होता है जिसके कारण लोग उससे घृणा करतेहैं, उसमें एक आध स्वाभाविक बात ऐसीभी होतीहै जिसके द्वारा वह लोगोंके तिरस्कार का परिहार करके अपनी रक्षा करनेमें समर्थ होताहै। अतएव सारे कुरूप मनुष्य अत्यन्त धृष्ट होते हैं। प्रथमतः वे अपनी निन्दा का प्रतीकार करनेके लिए धृष्टता दिखलाते हैं; परन्तु धीरे धीरे उस प्रकार का वर्त्ताव उनका स्वाभाविक धर्म होजाता है। एतादृश स्वभाव कुरूप मनुष्योंमें उद्योग वृत्ति को भी जागृत कर देता है; परन्तु उनका उद्योग प्रायः दूसरों की न्यूनता को ढूंढनेही के लिए होता है; क्योंकि ऐसा करनेसे उनको दूसरों से बदला लेने का अवसर मिलता है। इसके अतिरिक्त यह भी है, कि उनसे जो बढ़े चढ़े होते हैं वे यह समझ कर कि इन्हें जब चाहेंगे तभी परास्त करगे मत्सर करना छोड़ देते हैं। इसका यह फल होता है कि उनसें स्पर्द्धा करनेवाले और उनके बराबर काम करनेकी इच्छा रखने वाले लोग तब तक चुप रहते हैं जब तक वे उन्हें अपने से अच्छी दशा में नहीं देख लेते; क्योंकि वे यह कभी नही समझते कि कोई उनसे अच्छी स्थिति को पहुँच जावैगा। अतएव जो लोग चतुर हैं उनमें कुरूपता का होना उनके उत्कर्ष का कारण समझना चाहिए।

प्राचीन काल में (और किसी किसी देश में अब भी) राजा महाराजा खोजा लोगों का अधिक विश्वास करते थे; क्योंकि वे

यह समझते थे कि जो मनुष्य सबसे मत्सर रखता है वह एक का आश्रय लेकर उसी की सेवा में आनन्द से रत रहता है। तथापि अच्छे न्यायाधीशों और उच्च अधिकारियों के काम के विषय में उन का विश्वास उतना न था। परन्तु, हां, अच्छे दूत और अच्छे काना-फूसी करने वालों के काम का विश्वास अवश्य था। यही दशा कुरूप मनुष्यों की भी है। तथापि यह प्रमाणसिद्ध है कि धैर्यवान् होने से कुरूप मनुष्य, अन्यकृत तिरस्कार से, फिर चाहे वह तिरस्कार द्वेष बुद्धि से उत्पन्न हुआ हो अथवा गुणों के न सहन करने से उत्पन्न हुआ हो—अपना बचाव अवश्य करते हैं। अतः कुरूप मनुष्य यदि कभी कभी गुणवान् देखपड़े तो आश्चर्य न करना चाहिये। अजीसिलास,[1] सालीमनका पुत्र जंगर, ईसाप,[2] पेरू का प्रेसीडेंट गास्का इत्यादि पुरुष ऐसेही थे। साक्रेटीज़[3] की भी गणना औरों के साथ इसी प्रकार के पुरुषों में की जासकती है।

---

१ अजीसिलास, ग्रीस देश के स्पार्टाप्रान्त का राजा था। यह छोटे डील डौल का कुरूप और लँगडा था परन्तु बड़ा धीर और बड़ा शौर्यवान् था।

२ ईसाप ग्रीस देश में ईसा मसीह के लगभग ६२० वर्ष पहिले हुवा है। इसने अत्यन्त मनोरञ्जक और सदुपदेशजनक छोटी छोटी कथाओं का एक ग्रन्थ नीतिपर लिखा है।

३ साक्रेटीज ग्रीस के एथन्स नगर में एक प्रख्यात तत्त्ववेत्ता होगया है। इसकी प्रवृत्ति सदैव सत्य के खोज में रहती थी। तर्क वितर्क करने में यह उस समय अद्वितीय था। इसपर यह अपराध लगाया गया था कि यह तर्क द्वारा सत्य का असत्य और असत्य का सत्य लोगों को समझा कर उनकी बुद्धि में फेरफार उत्पन्न कर देता है। इसी को अपराध मान कर साक्रेटीज को राजाज्ञा से विष देदिया गया जिसे उसने प्रसन्नता से पान किया और अन्त समय तक सदुपदेश करता रहा।

प्रशंसा १८.

अद्यापि दुर्निवारं स्तुतिकन्या वहति कौमारम्।
सद्भ्यो न रोचते साऽसन्तस्तस्यै न रोचन्ते ॥

आर्या सप्तशती।

प्रशंसा अच्छे गुणों की छाया है; परन्तु जिन गुणों की वह छाया है उन्हीं के अनुसार उसकी योग्यता भी होती है। यदि सामान्य [तुच्छ] जनों के मुख से प्रशंसा हुई तो वह विशेष करके झूंठी और निरर्थक होती है। सुशील और सद्गुण सम्पन्न मनुष्योंकी अपेक्षा अभिमानी और वृथा वड़ाई हांकने वालों की प्रशंसा बहुधा विशेष होती है। तुच्छ मनुष्य अनेक उत्तमोत्तम गुणों को समझही नहीं सकते। साधारण छोटे मोटे गुणों की वे प्रशंसा करते हैं; मध्यम प्रकार के गुणों को देखकर उन्हें आश्चर्य होता है;परन्तु उच्च श्रेणी के जो सद्गुण हैं वे उनके ध्यान मे भी नहीं आते। दम्भ और सद्गुणों के अभ्यास मात्रही से वे सन्तुष्ट रहते हैं।

सत्यतो यह है कि कीर्त्ति नदी के प्रवाह के समान है। जैसे नदी के प्रवाह में हलकी तथा फूली हुई वस्तु ऊपर तैरा करती हैं और जड़ तथा गरुई नीचे डूब जाती हैं, उसीप्रकार प्रशंसारूपी प्रवाह में उत्तमोत्तम गुण डूबे रहते हैं, केवल छोटे छोटे गुण ऊपर दिखलाई देतेहैं; अतः वही लोगो के मुखसे सुनाई पड़ते हैं। परन्तु यदि लोकमान्य और विचारशील मनुष्यों ने प्रशंसा की तो उसे अवश्यमेव अपनी कीर्ति समझना चाहिये। इसप्रकार की प्रशंसा सुवासिक तैल के समान सब ओर शीघ्र फैल जाती है। सुवासिक पुष्पों की उपमा न देकर सुवासिक तैल की उपमा इस लिए दी हैं; क्योंकि पुष्पों के सुवास की अपेक्षा तैल का सुवास अधिकतर स्थायी होता है

---

१ स्तुति रूपी कन्या अभीतक अनिवार्य कौमार भावको धारण कररही है अर्थात् उसे अभीतक वरही नही मिला। कारण यहहै कि सत्पुरुष जो हैं उन्हें वह अच्छी नही लगती और असत्पुरुष जो हैं वे उसे नही अच्छे लगते।

स्वार्थ साधनेके लिए मनुष्य बहुधा झूंठी प्रशंसा करते हैं; अतः अपनी स्तुति को सावधानीसे सुनना चाहिए। बहुतेरे दूसरों की प्रशंसा केवल उनको प्रसन्न करनेके लिए करते हैं। इस प्रकारके खुशामदी लोग यदि सामान्य श्रेणीके हुए तो उनके प्रशंसा करनेके विषय निश्चित होते हैं और उन्हीका प्रयोग वे सब कहीं करते हैं। प्रशंसा करने-वाला मनुष्य यदि धूर्त हुआ तो वह अपनी धूर्ततासे उस विषयको जान लेगा जिसमें तुम अपनेको अधिक प्रशंसनीय समझते होगे और उसीमें वह तुम्हें आकाश पाताल दिखाने लगैगा। परन्तु यदि किसी धृष्ट और निर्लज्ज प्रशंसा करनेवालेसे काम पड़ेगा तो वह, जो गुण तुममें नहीं हैं अर्थात् जिन जिन विषयोंमें तुमको अपनी न्यूनता स्वयं दिखलाई देती है, उन्हीकी वह प्रशंसा करने लगेगा,।

कभी कभी सन्मानपूर्वक तथा अच्छे उद्देश्यसे भी प्रशंसा कीजाती है। इसप्रकारकी प्रशंसा राजा तथा अन्यान्य बड़े बड़े मनुष्यों की होती है। उनको प्रत्यक्ष उपदेश न देकर प्रशंसा द्वारा यह सूचित किया जाता है कि, जैसी स्तुति आपकी होती है उसीके अनुसार आपका आचरण होना चाहिए। बहुतेरे द्वेषबुद्धिसे दूसरोंको दुःख पहुँचाने के लिए उनकी स्तुति करते हैं जिसमें लोग उनसे मत्सर करने लगें। यही इसप्रकारकी स्तुतिका आशय होता है।

यथा समय, यथार्थ और उचित रीतिपर जो प्रशंसा क जाती है उससे अवश्य लाभ होता है। सालोमनने कहा है कि, जो मनुष्य प्रातः-काल उठकर अपने मित्रकी उच्चस्वरसे प्रशंसा करता है वह प्रशंसा उसके मित्रको शापके समान हो जाती है। इसका कारण यह है कि, किसीका अत्यन्त गौरव होनेसे लोग उसके प्रतिकूल बोलने लगते हैं और उसका मत्सर तथा उपहास करते हैं।

किसी किसी विशेष अवसरको छोडकर मनुष्यको अपने मुखसे अपनी प्रशंसा करना शोभा नहीं देता; परन्तु, हां, अपने व्यवसाय

तथा अपने पदकी प्रशंसा करनेमें कोई क्षति नहीं; इस प्रकार की प्रशंसासे मनुष्यकी मानहानि नहीं होसकती।

आत्मश्लाघा १९.

निजगुणगरिमा सुखाकरः स्यात्
स्वयमनुवर्णयतां सतां न तावत्।
निजकरकमलेन कामिनीनां
कुचकलशाकलनेन को विनोदः ?

सुभाषित रत्नाकर।

ईसापने एक कहानी लिखी है वह यह है--एकबार एक मक्खी किसी गाड़ीके पहियेके धुरे पर बैठी और कहने लगी, 'ओह! हो!देखो तो मैं कितनी धूल उड़ारहीहूँ'! कोई कोई मनुष्य इसी प्रकार के बड़ाई हांकनेवाले होते हैं। किसी काममें यदि वे किंचिन्मात्र भी छूगये तो यही समझते हैं कि, जो कुछ होता है सब हमी करते हैं; फिर चाहै वह काम आपही आप क्यों न होरहा हो अथवा चाहै उसके होनेका कैसाही महान् कारण क्यों न हो ! जो लोग अभिमानवश अपनेही मुखसे अपनीही बड़ाई करतेहैं वे अवश्यमेव कलहप्रियभी होते हैं; क्यों कि, दूसरोंसे अपनी तुलना करके उनकी अपेक्षा हम अधिक प्रशंसनीय हैं, यह उन्हें कहनाही पड़ता है। अपना माहात्म्य सिद्ध करनेके लिये उनको विशेष बकवादभी करना पड़ता है। गुप्तबात उनके पेटमें नहीं पचती; इसीलिये वे बहुधा धोखा खाते हैं और उनके कार्य सिद्ध नहीं होते। काम थोड़ा परन्तु आडम्बर अधिक--यह उनका सिद्धान्त होताहै।

परन्तु राजकीय व्यवहारोंमें आत्मश्लाघासे बहुत काम निकलता है। किसीके विषयमें यदि मनुष्योंके चित्तमें पूज्यबुद्धि उत्पन्न करना हो

१ भले आदमियों को अपने गुण अपनही मुखसे कहना अच्छा नहीं लगता। अपनेही करकमलोंसे अपनेही कुचकलशोंको स्पर्श करना स्त्रियोंके [illegible], भला कहिये, क्या कोई विनोद की बात है ?

अथवा किसीके सद्गुण और महत्त्वकी प्रसिद्धि करनी हो तो ऐसे लोग (अर्थात् प्रशंसक) विशेष काम आते हैं।

वृथा अभिमानकी बातें करने और असत्य बोलनेसे परिणाम दुर्धर होता है। जब कोई मनुष्य, राजाओंमें मध्यस्थ होकर, किसी तीसरे राजाके साथ युद्ध करनेके लिए उन्हें उत्तेजित करता है तब वह परस्परके सैन्यकी एक दूसरेसे बेप्रमाण प्रशंसा करता है। इसी प्रकार जब कोई मनुष्य, किसी अन्य दो मनुष्योंसे, बारी बारीसे, व्यवहार की बातें कहता है तब वह प्रत्येकसे अपने विषयमें यही बहाना करता है कि अन्यकी अपेक्षा वह उससे अधिक आत्मत्व रखता है। ऐसी तथा इस प्रकारकी और बातोंसे कुछ न कुछ फलप्राप्ति होती ही है; क्यों कि, प्रशंसा होते होते प्रशंसित पुरुषका मान आवश्यही बढजाता है और मान बढजानेसे लाभभी निःसंदेह होता है।

सेनाके अधिकारी तथा सिपाही लोगोंमें बड़ाई बड़े काम आती है। जिसप्रकार लोहेपर घिसनेसे लोहा तीक्ष्ण होजाता है उसी प्रकार एकके धैर्यको देखकर दूसरोंका भी धैर्य बढता है। साहस और महत्त्वके काममें कुछ तो बडाई करनेवाले और कुछ गम्भीरस्वभावके मनुष्य होने चाहिएँ; क्यों कि, बड़ाई बूकनेवालोंके कारण काममें उत्तेजना आती है; और गम्भीर स्वभाववालोंके कारण उसकी यथोचित सिद्धि होती है। विद्वत्ताका प्रकाश शीघ्र होनेके लिए भी कुछ आडम्बर अवश्य करना पडता है। कीर्तिसम्पादन करनेकी इच्छा सभीको होती है। जो लोग पुस्तकें लिखकर औरोंको यह उपदेश देते हैं कि, कीर्ति तुच्छ है वे अपनी पुस्तकोंके ऊपर अपना नाम क्यों लिखते हैं? कीर्तिकी यदि उन्हें अभिलाषा नहीं तो वे अपने नामको फिर क्यों सर्वसाधा-

रणमें प्रसिद्ध करते हैं ? साक्रेटीज़, अरिस्टाटल[1] और गेलन[2] इत्यादि पुरुष ऐसे होगए हैं जिनको आडम्बर अच्छा लगता था । प्रशंसा होनेसे मनुष्यकी कीर्ति चिरायु होती है । सद्गुण-सम्पन्न मनुष्यका यश जितना स्वयं उसकेद्वारा फैलता है उतना दूसरेके द्वारा नहीं फैलता । सिसरो सेनेका और दूसरे[3] प्लीनिमें यदि थोडा बहुत आत्माभिमान न होता तो उस समय उनके नाम की इतनी प्रसिद्धि कभी न होती । आत्माभिमान वारानिश (एक प्रकारका रोगन) के समान है । वारानिश की हुई वस्तु जैसे अधिक चमकती है वैसेही अधिक दिनतक रहती भी है । इसी भाँति शुद्ध अभिमानके योगसे सद्गुणोंका प्रकाश विशेष होता है और अधिक कालपर्य्यन्त रहता है ।

जो कुछ ऊपर कह आए हैं वह उस आत्मश्लाघा अथवा उस

---

१ अरिस्टाटल ईसवी सन्‌के ३८४ वर्ष पहिले ग्रीसमें पैदा हुवा था । यह एक प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता था । इसने प्लेटोके पास विद्याध्ययन किया था । सिकन्दरके पिताने इसीसे सिकन्दरको शिक्षण दिलाया था ।

२ गेलन ईसवी सन्‌के दूसरे शतकमें उत्पन्न हुवा । यह एक विख्यात वैद्य था । इसने वैद्यकके अनेक ग्रन्थ लिखे हैं ।

३ दूसरा प्लीनी रोमनगरके एक अच्छे घरानेका था । यह स्पेनका गवर्नर नियत किया गया था । विद्योपार्जनमें यह इतना दत्तचित्तसे लगा रहता था कि इसने अपना एक भी मिनट व्यर्थ नही खोया । यहांतक कि, भोजन तथा स्नान करनेके समय भी वह शास्त्रचर्चा करता रहता था । साहसी भी वह इतना था कि, व्यस्यूवियस नामक ज्वालामुखी पर्वतकी परीक्षाके लिए, अपने मित्रोंके द्वारा रोके जानेपर भी, वह उसके इतना निकट पहुंच गया कि, वही परीक्षा करतेही करते पर्वतकी प्रचंड लपटोंसे उसे अपने प्राण देने पड़े । ५६ वर्षके वयमें इसकी मृत्यु ७९ ई० में हुई । इसने अनेक ग्रन्थ लिखे; परन्तु "नैच्युरल हिस्ट्री" (जिसके ३७ भाग हैं) के सिवाय इसके और कोई ग्रन्थ देखनेमे नही आते ।

स्वाभिमानके विषयमें न समझना चाहिए जिसका वर्णन टासिटसने म्यूसियेनसके सम्बन्धमें किया है। किसी किसीको अपने काम काजका गौरवपूर्वक वर्णन करनेकी एक ऐसी युक्ति आती है कि उसे आत्माभिमान नहीं कह सकते। इस प्रकारकी भाषणपद्धति शुष्क अभिमानसे नहीं उत्पन्न होती, किन्तु मनकी स्वाभाविक उच्चता और बोलनेवालेकी विज्ञतासे उत्पन्न होती है। इसप्रकारका सयुक्तिक और गौरवशील भाषण बुरा न लगकर किसी किसीको उलटा शोभा देताहै। अपनी भूल मानलेनेका सा भाव दिखलाना; दूसरेके कहनेको युक्तिसे अङ्गीकार करना; मर्यादशीलताका वर्ताव रखना इत्यादि बातें इस विचित्र भाषणपद्धतिके लक्षण हैं। दूसरेके मुखसे अपनी प्रशंसा करालेने की एक सर्वोत्तम युक्ति यह है कि, जो गुण अपनेमें पूर्ण रूपसे वास करते हैं वे दूसरेमें देखकर उस मनुष्यकी यथासम्भव प्रशंसा करनी चाहिए। प्लीनी ने कहा है कि, दूसरे की प्रशंसा करने में तुम मानों स्वयं अपने गुणोंकी यथार्थता व्यक्त करते हो। जिसकी तुम प्रशंसा करते हो वह प्रशंसितगुणोंमें तुमसे न्यून होगा अथवा अधिक होगा। यदि वह तुमसे न्यून है तो जितनी प्रशंसा उसकी करते हो उससे तुम्हारी अधिक होनी चाहिए; और यदि वह तुमसे अधिक है तो जो तुम उसकी प्रशंसा न करोगे तो तुम्हारी कैसे होगी?

अपने मुहँ मियांमिठ्ठू बननेवाले, बुद्धिमान् जनोंके तिरस्कारास्पद होते हैं; मूर्खोंके स्तुतिपात्र होते हैं; खुशामदी लोगोंके मूर्तिमन्त देवता होते हैं; और अपनी ही वृथा बड़ाईके दास होते हैं।

---

१ टासिटस रोममें एक प्रसिद्ध इतिहासकार होगया है। ईसवी सन्के प्रथम शतकमें वह विद्यमान था।

कामजन्य प्रेम २०.

धंन्यास्त एव तरलायतलोचनानां,
तारूण्यरूपघनपीनपयोधराणाम्।
क्षामोदरोपरिलसत्रिवलीलतानां,
दृष्ट्वाकृतिं विकृतिमेति मनो न येषाम्।

भर्तृहरि।

मनुष्यके जीवनरूपी नाट्यशालाकी अपेक्षा रङ्गभूमि में (वह स्थल जहां नाटकोंका प्रयोग किया जाता है) प्रेमके दृश्य अधिक शोभा पाते हैं। शृङ्गाररसके जितने सुखान्त नाटक हैं उन सबका विषय तो प्रेम होताही है; शोकरसप्रधान दुःखान्त अभिनयों का भी कभी कभी वही विषय होता है। परन्तु मनुष्यके जीवनमें कामजन्य प्रेमको स्थान मिलनेसे अनेक अनर्थ उत्पन्न होते हैं। इस प्रकारका प्रेम मनुष्य पर कभी कभी मोहनीका सा प्रभाव डालता है और कभी कभी वही राक्षसीके से रूपमें व्यक्त होता है।

विचार करने से यह तुमको विदित हो जायगा कि, प्राचीन अथवा अर्वाचीन समयमें, आजतक, जितने महान् और प्रतिष्ठित पुरुष होगए हैं उनमेंसे एक भी पराकाष्ठाके कामजन्य प्रेमके फंदेमें नहिं फँसा। इससे यह सिद्ध होता है कि, विशेष सत्त्वशील और विशेष कार्यपटु लोग इस प्रकारके अनुचित विकारमे लिप्त नहीं होते। हां, तथापि, रोमके आधे राज्यका उपभोग करने वाला मार्कस[२] अंटोनियस और विधिशास्त्रका प्रवर्तक ऐपियस क्लाडियस

---

१ चंचल और विस्तृत नेत्रवाली, अत्यन्त कृश उदरके ऊपर शोभायमान त्रिवलीलताको धारण करनेवाली, पीनस्तनी, परमरूपवती, तरुणास्त्रियोंको देखकर, जिनके मनमें विकार नहीं उत्पन्न होता है, वेही धन्य हैं।

२ मार्कस अंटोनियस रोमका एक सर्दार था। यह बडा वीर पुरुष था; परन्तु विषयी भी बडा था। क्लियोपटरा नामक एक परम सौन्दर्यवती स्त्रीका वशीभूत था। इसने रोमराज्यके एक भागको अपने आधीनकरलिया था-

इन दोनोंका समावेश इस नियममें नहीं होसकता । उनमेंसे पहिला तो अवश्य अतिविषयी और निरंकुश था; परन्तु दूसरा गम्भीर और चतुर था । इनबातोंसे यह प्रमाणित होता है कि, कामजन्य प्रेमको जहां कहीं अप्रतिरुद्ध प्रवेश मिलता है वहां वह अपना प्रभाव प्रकट करता ही है; किन्तु यदि अच्छी प्रकार प्रतिबन्ध न किया जाय तो बडे बडे दुर्गम हृदयोंमें भी वह अपना सञ्चार करता है । ईश्वरकी माहिमाके तथा और उत्तमोत्तम विषयोंके मनन करनेके लिए मनुष्यका जन्म हुवा है । अतः उसके द्वारा जन्मको सार्थक न करके, अपनी प्रेमपात्ररूपी एक क्षुद्र मूर्तिके सम्मुख नम्र होना अतीव अनुचित है ।

यह एक आश्चर्यकी बात है कि, प्रेमाधिक्य होनेके कारण वस्तु की योग्यता अथवा अयोग्यता की ओर मनुष्यकी दृष्टिही नहीं जाती । कामजन्य प्रेमही में अतिशयोक्तियोंका सदा सर्वकाल भाषणके समय प्रयोग करना शोभा देता है; और कहीं नही शोभा देता । देखिये सामान्य व्यवहारमें लोग दूसरे की जितनी प्रशंसा करते हैं उससे अधिक वे स्वयं अपनी करते हैं अर्थात् औरोंसे वे अपनेको विशेष प्रशंसनीय समझते हैं; परन्तु, इस कामजन्य प्रेमकी यह विचित्रता है कि, इसके उत्पन्न होनेसे, प्रेमपात्र अपनेको जितना प्रशंसनीय समझता है, उससे भी अधिक

–और स्वतन्त्र होगया था । यह मद्यप भी था; कहते हैं मद्यपानकी प्रशंसामें इसने एक पुस्तक लिखी है । ५६ वर्षके वयमें ईसवी सन्के ३० वर्ष पहिले एक युद्धमें परास्त होनेके कारण इसने आत्मघात किया ।

२ एपियस क्लाडियस रोमका राजा था । यह भी बडा विषयी था । इसे इसकी रानी अग्रीपीनाने किसी कारणसे विष देकर मरवा डाला । यह ५४ ईसवीमें ६३ वर्षका होकर मारागया ।

उसपर प्रेम रखनेवाला उसे समझता है और तदनुरूप उसकी स्तुति करता है ! एक अत्यन्त सगर्व मनुष्य भी अपनेको जितना प्रशंसनीय नहीं समझता उतना प्रेम करनेवाला अपने प्रेमपात्रको समझता है; इसी लिए किसीने वहुत ठीक कहा है-कि, प्रेमभी करना और बुद्धि भी ठिकाने रखना ये दोनों बातें एक साथ नहीं होसकती। प्रेमके कारण विवेक जाता रहता है--यह केवल दूसरेही नहीं समझते किन्तु जिसपर प्रेम है वह भी समझता है। कहना तो यों चाहिए कि, प्रेमपात्रको इसका और भी अधिक ज्ञान होता है। परन्तु हां, जहां परस्पर प्रेमहै वहां यह नियम चरितार्थ नहीं होसकता, क्यों कि, कभी कभी प्रेमका वदला प्रेमही से दियाजाता है। जहां इस प्रकारका व्यवहार नहीं होता वहां प्रेमपात्र अपने प्रेमीका गुप्त रीतिपर तिरस्कार करताहै। इस वातको सत्य समझना चाहिए, क्योंकि वदला अथवा तिरस्कार-प्रेमकी यही दो गति हैं। इस प्रकारके प्रेमसम्वन्धसे मनुष्योंको अतिशय सावधान रहना चाहिए; कारण यह है कि, इससे अन्य हानियां जो होती हैं सो तो होतीही हैं--बडी भारी हानि यह होती है कि कभी कभी स्वयं प्रेमपात्रहीसे निराश होना पडता है। प्रेमातिरेकके कारण जो जो हानियां मनुष्योंको उठानी पड़ती हैं उनका कवियोंने समय समयपर यथार्थ वर्णन किया है। यह निश्चय समझना चाहिए कि, जो मनुष्य विषयजन्य सुखमें अधिक लिप्त रहता है उसे सम्पत्ति और विवेक दोनोसे हाथ धोना पड़ता है। प्रेमका वेग मनकी दुर्बलतामें वहुत बढ़ता है। मनका दौर्बल्य अधिक सम्पत्ति अथवा अधिक विपत्तिकालमें विशेष उत्पन्न होता है; तथापि विपत्तिमें प्रेमातिरेकके उदाहरण बहुधा कम देखनेमें आते हैं। ऐसे अवसरपर अर्थात् सम्पदा और आपदाके समय प्रेमका विकार निरतिशय उद्दीप्त और प्रचण्ड होजाता है। अत एव स्पष्ट ज्ञान पडता है कि, यह विकार केवलमात्र मूर्खताका परिणाम है।

प्रेमके पाशसे जो अपना बचाव नहीं कर सकते उनकेलिए

सबसे उत्तम बात यह है कि, उनको उसमें नितान्त आसक्त न हो जाना चाहिये और जीवनके सद्व्यवसाय और महत्त्वके कामोमें उससे लेशमात्र भी सम्बन्ध न रखना चाहिए; क्यों कि, काम काज से उसका सम्बन्ध होनेसे—अर्थात् विषयमें रत होनेके कारण सत्कार्यांका प्रतिबन्ध होनेसे—मनुष्यको द्रव्यकी हानि उठानी पडती है और तदतिरिक्त कर्तव्य कर्मकी सिद्धि भी नहीं होती। हम नहीं जानते शूर वीर लोग क्यों कामजन्य प्रेमके वशीभूत होजाते हैं ? साहसके कामकरनेके अनन्तर मद्यप्राशन के समान, सुख भोगमें प्रवृत्तहोनेकी इच्छा स्यात् उनको होती होगी।

मनुष्योंके मनकी प्रवृत्ति स्वभावहीसे दूसरोंपर प्रीति करनेकी ओर झुकती है। इस प्रेमप्रवृत्तिका प्रयोग किसी एक मनुष्य अथवा एक नहीं दो चार मनुष्योंके ऊपर यदि न कियागया तो प्रेमका वेग अधिकाधिक बढकर दूरदूरतक फैल जाता है। प्रेमाधिक्यहीके कारण मनुष्य दयाशील और दानी होते हैं; यह बात हम लोग साधुजनोंमें प्रतिदिन देखते हैं। दाम्पत्य अर्थात् स्त्रीपुरुषसम्बन्धी प्रेमसे मानवजातिकी उत्पत्ति होती है; मित्रता सम्बन्धी प्रेमसे उस मानवजातिकी पूर्णता होती है; और कामजन्य प्रेमसे उसकी दुर्दशा होती है।

द्रव्य २१.

अनुभवत ददत वित्तं मान्यान्मानयत सज्जनान्भजत।
अतिपरुषपवनविलुलितदीपशिखा चञ्चला लक्ष्मीः॥[1]

सुभाषितरत्नाकर।

दाना, चारा, छोलदारी इत्यादि कमसरियटके झगडे जैसे सैन्य की गतिके प्रतिबन्धक होते हैं वैसेही सम्पत्ति भी सद्गुणवृद्धिकी

---

१ धन पाकर उसका उपभोग करो उसका दान करो; मान्यजनोंका सम्मान करो; सज्जनोंकी सेवा करो;—स्मरण रहे कि, यह लक्ष्मी बडेवेगवाले पवनसे चलायमान दीपशिखा के समान चञ्चला है।

अवरोधक होती है। खाने पीनेके सामानके विना सैन्यका काम नहीं चल सकता; वह अवश्य साथमें होना ही चाहिए; इसलिए उसे छोड नहीं सकते । अतएव इस उठाने और लेचलनेके झगड़ेके कारण सेनाके प्रस्थान करनेमें विलम्ब होता है और कभी कभी ऐसे सामानकी रक्षा करनेके यत्नमें रहनेसे विजयसे भी हाथ धोना पडता है।

चाहे जितनी सम्पत्ति हो, सत्य तो यह है कि, उसमेंसे जितनी का सद्व्यय होताहै उतनीही सार्थक है । शेष जितनी है वह नाम मात्रकी सम्पत्ति है; उसका सुख केवल कल्पित है। सालोमनने कहा है कि, "जहां बहुत धन है वहां उसके भोग करनेवाले भी बहुत हैं, परन्तु धनीको उससे क्या लाभ ? नेत्रोंसे वह भलेही उसे देखता रहै"।

बहुत अधिक सम्पत्ति होनेसे उस सबका उपभोग सम्पत्तिमान् मनुष्य स्वयं नही कर सकता । आवश्यकताकी अपेक्षा विशेष द्रव्य होनेसे मनुष्य उसको सुरक्षित रक्खेगा; दूसरोंको देनेके उपयोगमें लावेगा; तथा श्रीमान् होनेकी कीर्ति सम्पादन करेगा-वस इतनाहीं; इससे अधिक, कहिए, उसको और क्या लाभ होस कता है ? क्या तुम नहीं देखते हो कि, छोटे छोटे पत्थरों तथा अनोखी वस्तुओंका कितना मनमाना मूल्य कल्पना किया जाता है और उस विषय में कितने आडम्बरके काम आरम्भ किए जाते हैं? जानते हो यह सब किस लिए किया जाता है ? केवल इस लिए जिसमें लोग यह समझैं कि, हां, अधिक सम्पत्तिका भी कुछ उपयोग होता है। स्यात् तुम कहोगे कि, मनुष्योंको संकटसे मुक्त करनेके लिए, द्रव्य काममें आता है, क्योंकि, सालोमनने भी ऐसाही कहा है। उसका कहना यह है कि, "धनवान् मनुष्य अपने मनमें यह समझता है कि, मेरा धन मेरी रक्षाके लिए एक प्रकारका कवच है"। इस वाक्यमें "मनमें" यह शब्द ध्यानमें रखना चाहिये । यह उक्ति बहुत ठीक है; परन्तु उसका अर्थ जैसा है वैसा लोग नहीं समझते । आरि-बचनेके लिए द्रव्यको मनही मन कवच भलेही माने रहो; परन्तु

यथार्थमें वह कवचका काम नहीं देसकता। सत्य तो यह है कि, द्रव्यके कारण जितने मनुष्योंका नाश हुवा है उनकी अपेक्षा रक्षा वहुत कम कीहुई है।

जिसके उपार्जनसे मनुष्य मदान्ध होजाता है ऐसी सम्पत्तिसे दूर रहना चाहिए। सम्पत्ति उतनीही उपार्जन करनी चाहिये जितनी न्यायसे मिले; जिसका उपयोग गर्वरहित होकर होसकै; जिसका दान प्रसन्नतापूर्वक किया जासकै; और जिसके छोडजानेमें असन्तुष्ट न होना पड़े अर्थात् दुःख न हो। विरक्त संन्यासियोंके समान द्रव्यका तिरस्कार न करना चाहिये। परन्तु द्रव्यको सञ्चित करके औरोंके लिए छोडजानेके लिए भी उसे न इकट्ठा करना चाहिए। देखिए सिसरोंने रैवीरियस पास्थमसके विषयमें कैसा अच्छा कहा है। वह कहता है कि, "इस सरदारने जो इतने कष्टसे द्रव्योपार्जन किया वह लोभवश नहीं किया; किन्तु इस लिए किया कि उसके द्वारा वह परोपकार करनेमें समर्थ होवे"। एक वारही धनाढ्य होनेका प्रयत्न न करना चाहिए। सालोमनका कथन है कि, "जो शीघ्र धनी होजाता है वह पापरहित नहीं होता"। पुरातन कवियोंने कहा है कि, ज्यूपिटर (गुरु–वृहस्पति) जव प्लूटस (कुबेर) को भेजताहै तव वह लँगड़ाते हुए धीरे धीरे आता है; परन्तु जव प्लूटो (यम) उसे भेजता है तव वह दौड़ता हुवा वेगसे आता है। अर्थात् सन्मार्ग और सुपरिश्रमसे जो द्रव्य मिलता है वह धीरे धीरे एकत्र होता है; परन्तु किसी सम्वन्धीके न रहने, अथवा मृत्युपत्रादि द्वारा जो द्रव्य मिलता है वह अनायास एक वारही आजाता है। प्लूटोको पिशाच मानकर यह दृष्टान्त उसके विषयमें भी चरितार्थ किया जा सकता है, क्यों कि,

---

१ रैवीरियस पास्थमस रोमका एक सरदार था। इसने ईजिप्टके राजाको अपार धन ऋण दिया था परन्तु वह राजा ऐसा कृतघ्न निकला कि उसने ऋण तो चुकाया नहीं उलटा इसे वन्दी वनालिया। वहांसे यह किसी प्रकार वडे कष्टसे छूटकर फिर अपने देशको आनेमें समर्थ हुवा।

पैशाचिक मार्गसे अर्थात् कपट, बलात्कार और अन्यायद्वारा जो सम्पत्ति मिलती है उसके आनेमें देरी नहीं लगती।

धन एकत्र करनेके अनेक साधन हैं; परन्तु उनमेसे बहुतेरे अति अधम हैं। कार्पण्य सबसे अच्छा है; परन्तु उसमें भी यह दोष है कि, उसके कारण दान धर्म्म करने और उदारता दिखलानेमें मनुष्य नहीं समर्थ होता। पृथ्वीको अच्छी दशामें लाना द्रव्योपार्जन करनेका अत्यन्त स्वाभाविक मार्ग है, क्यों कि, इस द्वारा जो द्रव्य मिलता है वह अपनी माता वसुन्धराके प्रसादसे मिलता है; परन्तु, हां, मिलता देरमें है। तथापि धनी लोग जहां कृषीकी ओर झुकते हैं वहां थोडे ही कालमें द्रव्यकी अतिशय वृद्धि होती है। इंग्लैंडमें हमारे परिचयका एक श्रीमान् सरदार था। उसको इतना हिसाब किताब रखना पड़ता था कि, उस समय उतना और किसीको भी न रखना पडता था। उसके यहां बहुत गाय बैल थे; बहुत भेडैं थीं; लकड़ीका भी व्यापार होता था; खानका भी वह काम करता था; धान्य भी रखता था; सीसे और लोहेका भी व्यवसाय करता था। इसके अतिरिक्त और भी अनेक छोटे छोटे कृषीके काम उसके यहां होते थे। अतएव उसे सदैव इतना माल मँगाना पडताथा कि, पृथ्वी उसके लिए समुद्र होरही थी।

एक कहावत है कि, "वह बडे परिश्रम से थोडा धन संचय करसका, परन्तु बहुत धन बहुत शीघ्र इकट्ठा होगया" इसका अभिप्राय यह है कि, पहिले विशेष परिश्रम से थोडा द्रव्य मिलता है परन्तु जब थोडा मिलगया तब उसकी वृद्धि बहुत शीघ्र होती है। कारण यह है कि, जब इतना द्रव्य पास होजाता है कि, बाज़ार भाव अनुकूल होनेतक मनुष्य अपना कारबार बन्द रख सकता है, तथा जिनके करने की बहुत कम लोगोंको सामर्थ्य है, ऐसे ऐसे बड़े बड़े व्यवसायों को करने लगता है तब वह बहुत शीघ्र धनी होजाता है।

साधारण व्यापार तथा उद्योग से जो प्राप्ति होती है वह प्रामा-णिक होती है और दो प्रकारसे वह बढ़ती है। एक तो चातुर्यसे

और दूसरे सच्चे व्यवहार करनेकी कीर्त्ति सम्पादन करनेसे । परन्तु ठेकालेने अथवा बड़े बडे सौदे करनेसे जो प्राप्ति होती है उसकी प्रामाणिकताका ठीक नहीं रहता। क्योंकि, ऐसे व्यवसायोंमें दूसरे की आवश्यकताकी ओर दृष्टि रखकर अपना काम निकालना पडत है; दूसरे के नौकर चाकर मनुष्योंको लोभ दिखलाकर सौदा करना पडता है; दूसरे यदि अधिक पैसे देकर वही काम करना चाहते हैं तो उन्हें हर प्रयत्नसे हटाना पडता है। इस प्रकार का व्यवहार करना निंद्य और कपटी मनुष्यका काम है। जब कोई किसी वस्तुको एकसे लेकर दूसरे को तत्काल ही बेच देता है तब वह दूनी कमाई करता है; जिससे मोल लेता है उससे भी लाभ उठाता है और जिसे देता है उससे भी—अर्थात् दोनोसे पैसे बनाता है। साझेमें काम करनेसे भी बहुत लाभ होता है; परन्तु साझी विश्वासपात्र होने चाहिए ।

कुशीदवृत्ति अर्थात् व्याज बट्टेका काम करनेसे अवश्यमेव बहुत लाभ होता है; परन्तु इस धन्धेका आश्रय लेना अति निंद्य है क्यों—कि इसमें मनुष्यको दूसरे की गाढ़ी कमाईके पैसेसे अपना पेट पालना पडता है। इस व्यवसायमें प्राप्ति अवश्य होती है, परन्तु निर्दोष यह भी नही है। कभी कभी मध्यस्थ मनुष्य और दलाल; अपने लाभके लिए ऐसे ऐसे अप्रामाणिक लोगोंको रुपया दिलवा बैठते हैं, कि फिर वह रुपया उनके पाससे लौटकर घर नहीं आता।

एक आध नवीन कला अथवा नवीन कल्पना जो निकालता है उसे कभी कभी शीघ्रही अपार द्रव्य मिल जाता है। जिसने कानेरी द्वीपमें पहिले पहिल शक्कर बनाना प्रारम्भ किया वह एक बारही कुबेर होगया । अतएव, उत्कृष्ट नैय्यायिकके समान जिसमें विवेक और कल्पनाशक्ति दोनों होती हैं वह मनुष्य बहुत कुछ कर सकता है। परन्तु, हां, समय अनुकूल होना चाहिए। जिसकी प्राप्तिके मार्ग नियमित होते हैं वह क्वचित् धनाढ्य होता है। इसी प्रकार जो

एकबारही किसी साहसके काममें अपना सारा धन लगा देता है वह बहुधा डूबता है और 'भिक्षां देहि' करनेतक नौबत पहुँचती है । अतएव साहसके काममें रुपया लगानेके पहिले निश्चित प्राप्तिका परिमाण देख लेना चाहिए जिसमें समयपर जो कुछ हानि हो वह उस प्राप्तिसे पूरी होसके ।

ठेकेपर सारा माल अकेलेही लेकर उसे बेचनेसे भी बहुत लाभ होता है । परन्तु ऐसे स्थानमें यह काम करना चाहिए जहां बेचने में किसी प्रकारका प्रतिबन्ध न हो । किस वस्तुकी किस समयमें मांग होगी, इसका विचार करके माल भरनेसे और भी अधिक लाभ होता है ।

दूसरेकी नौकरी करके जो पैसा मिलता है वह अवश्य सुमार्गका पैसा होता है और पास रहता भी है परंतु खुशामद करके; तथा और ऐसेही नीच काम करके जो मिलता है वह महा निंद्य होता है । मृत्युपत्र द्वारा सम्पत्ति प्राप्त करने अथवा मृत्युपत्रके लेखानुसार कार्यवाही करनेका काम मिलनेका प्रयत्न करना और भी अधिक अधम समझना चाहिए । ऐसे कामोंमें नौकरी की भी अपेक्षा अति नीच लोगोंका आज्ञाकारी बनना पडता है ।

जो लोग द्रव्यको तुच्छ समझते हैं उनका विश्वास न करना चाहिए। वे द्रव्यको तुच्छ इसलिए समझते हैं; क्यों कि उसके मिलनेकी उन्हें आशा नहीं रहती । ऐसोंको दैवयोगसे यदि सम्पत्ति मिलगई तो फिर कुछ न पूंछो; मिलनेपर, वे औरोंसे भी अधिक मदान्ध होजाते हैं।

मनुष्यको मक्खीचूस न होना चाहिए; द्रव्यके पंख होते हैं; कभी कभी वह आपही आप उडजाता है और कभी कभी अधिक द्रव्य सम्पादन करनेकी इच्छासे उसे उड़ाना पड़ता है ।

मरनेके समय मनुष्य अपनी सम्पत्ति अपने सम्बन्धियोंको देजाते हैं; नही तो, किसी सार्वजनिक कामके लिए अर्पण कर देते हैं परिमित द्रव्य दोनोंके लिए देना उत्तम है । किसी अल्पवयस्क औ

विवेकशून्यको किसीके मरनेपर अनायास बहुत धन प्राप्त होनेसे, पास पड़ोसके मनुष्यवेषधारी गृद्धोंको टूट पड़नेके लिए अच्छा आमिष मिलता है।

बड़े बड़े पुरस्कार देना और बड़ी बड़ी संस्थाओंकी स्थापना करना द्रव्यको व्यर्थ फेंक देना है, क्योंकि इस प्रकारके जितने दातृत्वके काम होते हैं वे ऊपरसे तो भव्य और आश्चर्यजनक देख पडते हैं परन्तु कालान्तरमें वे अवश्य जीर्ण शीर्ण होजाते हैं और उनकी वह पहिली शोभा नहीं रहती। अतएव विना विचारे अपरिमित दान न करना चाहिए; आवश्यकतानुसार नियमित रीतिपर दान करना उचित है। दान धर्म जो कुछ करना है उसे शीघ्रही कर डालना चाहिए; अब करेंगे, तब करेंगे, इस प्रकार विलम्ब करना अनुचित है। सूक्ष्म विचार करनेसे यह स्पष्ट विदित होजायगा कि जो मनुष्य मरनेके समय दान धर्म करता है वह यथार्थमें अपने द्रव्यको देकर उदारता नहीं दिखाता; किन्तु दूसरेके द्रव्यको देकर दिखाता है। उस समय वह यह जानता ही है कि थोड़े ही समयमें, मेरे अनन्तर यह सब वैभव मेरे हाथसे निकलकर दूसरेके अधिकारमें आजावेगा।

स्वभाव २२.

यो यस्य प्रकृतिः स्वभावजनिता केनापि न त्यज्यते।[1]

शार्ङ्गधर।

स्वभाव गुप्त रहता है; कभी कभी वह मनुष्यके वशमें भी आजाता है; परन्तु निर्मूल बहुत कम होता है। स्वभावको बलपूर्वक वशमें लानेका प्रयत्न करनेसे वह और भी अधिक आवेशके साथ अपनी सत्ता जमाता है। उपदेश और शिक्षासे स्वभाव कुछ नम्र होजाता है परन्तु उसको पूर्णतया बदलने अथवा जीतनेके लिए केवल अभ्यास-ही समर्थ है। जिसकी यह इच्छा है कि वह स्वभावको अपने वशमें

---

१ जो जिसका स्वभाव है वह बहुधा नहीं छूटता।

करले उसको उचित है कि वह न तो बहुत बड़े बड़े काम करनेको उद्यत हो और न बहुत छोटेही छोटे करनेको उद्यत हो। कारण यह है कि, बहुत बड़े बड़े कामोंमें अनेक विघ्न होनेसे उत्साह जाता रहता है; और छोटे छोटे कामोंमें यद्यपि प्रायः सिद्धि होती है तथापि बढकर हाथ मारनेको नहीं मिलता।

तैरना सीखनेवाले जैसे पहिले तुम्बे अथवा घड़े इत्यादिकी सहायतासे तैरना आरम्भ करते हैं वैसे ही मनुष्यको किसी बातका अभ्यास करना हो तो दूसरेकी सहायतासे करना उचित है। परन्तु कालान्तरमें प्रतिकूल वस्तुओंके साहाय्यसे अभ्यासक्रम बढाना चाहिये। इसका यह कारण है कि सामान्य रीतिसे जो काम किय जाता है तदपेक्षा यदि कुछ कठिनतासे उस के करनेका अभ्यास होजाता है तो मनुष्यमें प्रवीणता अधिक आती है।

स्वभाव अति उद्दाम होनेसे उसको वशीभूत करनेमें बड़ी कठिनता पड़ती है; अतएव ऐसे स्वभावको क्रमक्रमसे अपने वशमें लाना चाहिए। क्रोध आनेपर मनुष्यको जैसे २४ तक गिनती गिनकर तब कोई काम करना चाहिए, उसीप्रकार स्वभावको रोंककर कुछ देर ठहर जाना चाहिए। यह पहला क्रम है। बहुत मद्य पीनेवालोंको जैसे पीना कम करते२ भोजनके समय केवल एक आध प्याला तक पहुँचकर अन्तमें उसे बन्द करदेना चाहिए उसीप्रकार स्वभावको धीरे धीरे छोड़ना चाहिए। यह दूसारा क्रम है। यदि किसीमें इतना दृढ़ निश्चय और धैर्य हो कि वह अपने दुःस्वभावको तत्कालही छोडसकै तो और भी अच्छा है। जैसे छड़ी एक ओरसे यदि टेढ़ी हुई तो दूसरी ओर भी टेढ़ी करके उसे सीधी करते हैं वैसेही विरुद्ध आचरणद्वारा स्वभाव को ठिकाने लाना चाहिए। यह प्राचीन लोगोंका नियम है। यह भी बुरा नहीं; परन्तु स्मरण रहै कि विरुद्धाचरण अनीतियुक्त न होना चाहिए।

किसी कामको बराबर करते रहना अच्छा नहीं। निरन्तर ऐसा करनेसे स्वभाव बिगड़ जाता है। बीच बीचमें अवकाशपूर्वक काम करना चाहिए। इसके दो कारण हैं। विश्राम लेनेसे एक तो फिर काम करनेकेलिए उत्साह बढ़ता है और दूसरा यह कि यदि मनुष्य कार्यपटु नहीं है तो संतत काममे लगे रहनेसे उसके स्वाभाविक दोष भी गुणोंके साथ मिलजाते हैं और ऐसा होनेसे दोनोंके करनेका उसे स्वभाव पड़जाता है। गुणदोषोंके मेल को बचानेके लिए यही एक उपाय है कि निरन्तर किसी बातका अभ्यास न करके उसे साव-काश करना। स्वभावको हमने अपने वशमेंकर लिया है ऐसा कदापि न समझना चाहिए। बहुत काल पर्यन्त दबा रहनेपर भी सन्धि मिलतेही स्वभाव फिर जागृत हो उठता है। ईसापने एक कहानी लिखी है। वह यह है:-एक बिल्ली थी। दैवयोगसे वह स्त्री होगई। उसके सब व्यवहार भी मनुष्य हींकेसे होगए। एक बार उसने एक चूहेको अपने सामनेसे जाते देखा। बस फिर क्या था; तत्काल ही छलांग भर उसपर कूद पड़ी और पकड़ कर उसे उदरस्थ करलिया। अतएव यातो स्वभावको चंचल करनेवाले जितने प्रोहक प्रसंग हैं उनसे मनुष्यको अलग रहना चाहिए या उनका वारंवार सामना करना चाहिए। इस प्रकारका आचरण रखनेसे अपाय नहीं होता।

एकान्त स्थलमें मनुष्यके स्वभावका यथार्थ परिचय मिलता है, क्योंकि उस समय बनावटी व्यवहार करने की आवश्यकता नहीं रहती। क्रोधमें भी स्वभावका स्वरूप ठीक ठीक दिखाई देता है; उस समय भी विधि, विधान और लोकाचारका ज्ञान जाता रहता है। कोई नया प्रसंग आने अथवा नया अनुभव होनेमे भी यही होता है; कारण यह है कि, ऐसे अवसरपर रूढ़िका ज्ञान काम नहीं करता।

जो विषय अपनेको अच्छे नहीं लगते और उन्हें सीखना है, उन के लिए समय नियत करदेना चाहिए। परन्तु जो विषय अपनेको प्रिय हैं, उनके लिए नियमित समय न होनेसे भी हानि नहीं; क्योंकि,

काम काज और पठन पाठनसे अवकाश मिलनेपर मन उन विषयोंकी ओर आपही आप चला जाता है। मनुष्यका स्वभाव ऐसा है कि वह भले बुरे दोनों विषयोंकी ओर झुकता है। इस लिए जो कुछ बुरा है उसको छोड़ना चाहिए और जो कुछ भला है उसे ग्रहण करना चाहिए।

रूढि २३.

१ शास्त्राद्रूढिर्बलीयसी।

मनुष्यों के विचार बहुधा उनकी मनोवृत्तिके अनुसार होते हैं; उनके भाषण, उनकी विद्वता और उनके मतके अनुसार होते हैं; परन्तु उनके कृत्य उनकी अभ्यसित रीतिके अनुसार होते हैं। इसी लिए मैकियाव्यलने कहा है--और बहुत ठीक कहा है--कि प्रकृति पर भरोसा न करना चाहिए; और न निरी बातचीत की प्रगल्भता हीपर भरोसा करना चाहिये। कोई भी काम हो, यदि उसको करनेका स्वभाव पड़गया होगा तभी मनुष्य उसे सुव्यवस्थित रीतिपर कर सकेगा। उसका यह कथन है कि यदि कोई घोर साहसका काम करना हो तो एक उग्र स्वभाववाले अथवा अतिशय दृढनिश्चयवाले मनुष्यपर विश्वास न करना चाहिए। ऐसे कामके लिए एक ऐसा मनुष्य नियुक्त करना चाहिए जिसने एक वार रक्तसे अपने हाथ लाल किए हों। अर्थात् जिसे एतादृश काम करने की आदत पड़ गई होगी वही उसे अच्छे प्रकारसे करनेमें समर्थ होगा। परन्तु मैकियाव्यल का कथन सर्वथैव सत्य नहीं है; क्यो कि,वह फ्रायर क्लेमेन्ट, सैविलाक; ज़ारेगाय और बालटाज़र जेरार्डको नही जानता था। ये लोग ऐसे होगए हैं जिन्होने वे वे काम किए हैं जो उन्होने पहिले कभी नहीं किए थे। तथापि मैकियाव्यलका कहना बहुत करके यथार्थ है कि प्रकृति और प्रणमें उतनी शक्ति नहीं है जितनी शक्ति अभ्यासमें

---

१ रूढ़ि अर्थात् देशाचारके आगे शास्त्रकी भी कुछ नहीं चलती।

है। यह सत्य है, परन्तु धर्मभीरुताका प्राबल्य इतना है कि तद्वारा प्रेरित होकर मनुष्य कसाईके समान हृदयको कठोर करके पहि पहिलभी रक्तपात करनेसे नहीं हिचकते। किसीके प्राण हरण करनेमें भी देवताओंको भक्तिभाव दिखलानेके लिए, किएगए प्रण (मान मन्ता) का प्रभाव अभ्यासके प्रभावके बराबर ही होता है। इसके अतिरिक्त और सब कहीं अभ्यास ही का माहात्म्य अधिक देख पड़ता है। मनुष्य प्रतिज्ञा करते हैं; शपथ खाते हैं; वचन देते हैं; सब कुछ करते हैं; परन्तु प्रसंग पड़नेपर फिर जैसा करते आए हैं वैसाही करने लगते हैं। जान पड़ता है इस प्रकारके मनुष्य मनुष्यही नहीं; किन्तु अभ्यासरूपी पहियोंके बल चलनेवाली काठकी कठपुतरी हैं।

किसी समुदायमें जो बात चिरकालसे होती आई है उसे रूढ़ि अथवा रीति कहते हैं। देखिए इस रूढ़िमें कितना पराक्रम है। अमेरिकाके इन्डियनलोग (उनमेंसे जो अपनेको सज्ञान समझते हैं वे) जीतेही जल मरते हैं। यही नहीं; किन्तु उनकी स्त्रियां भी अपने अपने पतिके शवके साथ अग्निप्रवेश करती हैं! पूर्वकालमें ग्रीस देशके स्पार्टा नगरमें, लडकोके ऊपर, दियाना नामक देवीके मन्दिरमें, कोडों की वर्षा की जाती थी; तथापि वे इतनेपर भी मुखसे चकार तक नहीं निकालते थे। हमको स्मरण है, इंग्लैंडमें एलिज़ब्यथ रानीके सिहासनपर बैठनेके कुछ ही कालोपरान्त, एक आयरलैंडके सरदारको रानीके विरुद्ध शस्त्र उठानेके अपराधमें, प्राणान्त दण्ड हुआ था। उसने राज्यके अधिकारियोसे यह विनय किया कि मुझे रस्सीसे फांसी न देकर 'विलो' नामक पेड़ की पतली छड़से फांसी दी जाय। इसका यही कारण था कि उसके पहिले राजाके विरुद्ध शस्त्र उठानेवालोंको उसी प्रकार फांसी दीगई थी। रूसमें ऐसे ऐसे सन्यासी पडे हैं जो रात रात भर, तबतक पानीमें बैठ तपस्या किया करते हैं, जबतक उनका सारा शरीर बर्फके साथ जमकर पत्थरके समान कड़ा नहीं हो जाता!

'ऊपर जो उदाहरण दिए गए उनका यह तात्पर्य है 'कि मन और शरीर दोनोंके ऊपर रूढ़िका भारी प्रभाव होता है। अत-एव जीवनमें रूढ़िका जब इतना प्राबल्य है तब मनुष्योंको चाहिए कि वे अच्छी अच्छी बातोंको करनेका स्वभाव डालें'। बाल्या-वस्थामें जो स्वभाव पड़जाता है वह दृढ़ होजाता है। उसीको शिक्षा कहते हैं। विद्याध्ययनके विषयमें भी यही नियम चरितार्थ होता है। अल्पवयमें जितना शीघ्र विद्या आती है उतना शीघ्र तरुण वयमें नहीं आती। अल्पवयमें जैसे चाहिए वैसे उच्चारण जिह्वासे किए जासकते हैं और शरीरकी सन्धियां और अवयव जैसे चाहिए वैसे, चपलताके प्रत्येक काममें, प्रवृत्त किए जा सकते हैं। यह बात तरुणवयमें नहीं पाईजाती। इस नियममें एक अपवाद है; वह यह है कि, जिन मनुष्योंने अपने मनके सिद्धान्त निश्चित नहीं करलिए अतएव जो सदैव नवीन और उपयोगी बातोंके ग्रहणकरनेको प्रस्तुत रहते हैं, वे अधिक वयस्क होनेपर भी उपयोगी कलाकौशलको सीख सकते हैं। परन्तु विरलेही इस प्रकारके होते हैं; यह स्मरण रखना चाहिए।

व्यक्तिविशेषके अभ्यासका बल जब इतना है तब दस पांच मनुष्योंके समाजमें उसका बल और भी अधिक समझना चाहिए। समाजमें औरोंके उदाहरणसे शिक्षा मिलती है; उनके समा-गमसे सुख होता है; उनसे अधिक उत्कर्ष पानेकी इच्छा रहती है, और उनके द्वारा प्रशंसा की जानेसे प्रतिष्ठा भी बढ़ती है। अतएव ऐसे स्थलमें अभ्यासका बल सर्वतोपरि देख पड़ता है। सत्य है; मनुष्यके स्वभावजात जितने अच्छे अच्छे गुण हैं वे सुव्यवस्थित और शिक्षित समाजहीके अवलम्बनपर निर्भर हैं; उसीका आश्रय लेनेसे उनकी विशेष वृद्धि होती है। लोकसत्तात्मक राज्य और उत्तम राज्यप्रणाली, बोएहुए सद्गुणरूपी बीजको पुष्टमात्र करते है; परन्तु स्वयं उस बीजमें कोई विशेषता नहीं उत्पन्न कर सकते।

खेदकी बात है, इस समय, अत्यल्प सिद्धिके लिए अति महान् प्रयत्न किए जाते हैं।

कार्यसाधन २४.

यो यत्र कुशलः कार्ये तं तत्र विनियोजयेत्।
कर्मस्वदृष्टकर्मा यः शास्त्रज्ञोऽपि विमुह्यति ॥ १ ॥
न तच्छस्त्रैर्न नागेन्द्रैर्न हयैर्न च पत्तिभिः।
कार्यं संसिद्धिमभ्येति यथा बुद्ध्या प्रसाधितम् ॥ २ ॥

सुभाषितरत्नभाण्डागार।

किसीसे कुछ कहना हो तो चिट्ठी पत्रीकी अपेक्षा प्रत्यक्ष मुखसे कहना अच्छा है; और स्वयं कहनेकी अपेक्षा किसीको मध्यस्थ करके उसके द्वारा कहलाना अच्छा है। परन्तु, यदि किसीके हस्त लिखित उत्तरकी अपेक्षा हो; अथवा, यदि, अपनी प्रामाणिकतासिद्ध करनेके लिए कालान्तरमें अपने पत्रको दिखलाने की आवश्यकता हो; अथवा, यदि, कहनेमें विघ्न आनेका डरहो; अथवा, यदि, जो कुछ कहना है वह सब एकबारगी किसीको सुननेका अवकाश नहो; तो चिट्ठी पत्रीसे व्यवहार करना अच्छा है। जिन लोगोंके सन्मुख होने में उनपर अपना प्रभाव पड़ सकता है उनसे प्रत्यक्ष बात चीत करनी चाहिये। उदाहरणार्थ—अपनेसे छोटोंके साथ। इसी प्रकार सूक्ष्म अर्थात् नाजुक विषयोंमें भी प्रत्यक्ष भाषण करना अच्छा है; क्योंकि, ऐसा करनेसे जिसके साथ बातचीत करते हैं उसकी मुख-चर्य्या देखनेका अवसर मिलता है और यह समझमें आजाता है कि कहांतक उसके साथ इस विषयमें बोल सकते हैं। इसके अतिरिक्त साधारणतः जहां 'हां' अथवा 'न' कहने अथवा किसीबातका स्पष्टी करण करनेका भार अपने ऊपर लेना हो वहां भी स्वयमेव वार्त्तालाप करना उचित है।

---

१ जो जिस काममें कुशल है उसको उसी काममें नियुक्त करना चाहिए; जिसने जो काम नही किया वह शास्त्रज्ञ होकर भी उसे अच्छी प्रकार नही कर सकता। जो काम शस्त्र, हाथी, घोडा और पैदल, किसीसे नही होता वह केवल बुद्धिके बलसे होता है।

मध्यस्थकी आवश्यकता होनेसे सीधे सादे मनुष्योंको मध्यस्थ करना चाहिए; कपटी आदमियोंको कदापि मध्यस्थ न करना चाहिए। सीधे सादे लोगोंसे जो कुछ कहा जाता है वही वह जाकर कहते हैं और परिणाम क्या हुआ, सो ठीक ठीक आकर बतलाते हैं । परन्तु कपटी मनुष्य दूसरेके काममें स्वयं लाभ उठानेका यत्न करने लगते हैं और जहां जाते हैं वहांसे लौटकर जो कुछ कहना है उसमें नमक मिर्च लगाकर कहते हैं । जिस कामसे जिनका थोडा बहुत सम्बन्ध है उन्हींको वह काम कहना चाहिए। ऐसा करनेसे काम शीघ्र होता है। इसी भाँति जो जिस कामके योग्य है उसी की योजना उस कामको करनेके लिए करनी चाहिए । उदाहरणार्थ;—वाग्युद्ध करनेका काम धृष्ट मनुष्यको देना चाहिए; समझाने अथवा मनानेका काम मिष्ठभाषी मनुष्यको देना चाहिए; पूंछ पांछ करने अथवा देखने भालनेका काम धूर्त मनुष्यको देना चाहिए; बुरा अथवा अपयशका काम किसी मूर्ख और हठी मनुष्यको देना चाहिए । जिन मनुष्योंको पहिले कोई काम दिया है और उसमें वे यशस्वी हुए हैं उनकी योजना उसी काममें करनी चाहिए । इससे विश्वास बढ़ता है और पहिले की भांति उत्साहपूर्वक काम करके वे लोग फिर भी यशस्वी होनेका प्रयत्न करते हैं।

जिससे अपना काम है उसको सहसा सब बात प्रथमही कह देने की अपेक्षा धीरे धीरे उसके मनकी थाह ले लेने के अनन्तर कहना अच्छा है। परन्तु, हां, यदि अकस्मात् किसी छोटेसे प्रश्नके मिषसे उसे चकित करके उसका मनोगत भाव जानना हो तो बात दूसरी है। काम काज यथास्थित होनेके कारण जिनकी इच्छा और कुछ करने की नहींहै उनकी अपेक्षा वे लोग जिनको कामकी भूख है उनसे व्यवहार करना अच्छा है। जब कोई मनुष्य किसीका काम किसी नियम के अनुसार करता है तब उस नियमको पूरा न करनेके पहिले ही

उससे वह काम समाप्त करा लेनेकी आशा करना विचार दृष्टिसे योग्य नहीं दीखता। हां, ऐसी आशा उस दशामें की जासकती है जब वह काम ऐसा हो कि उसका पहिले ही समाप्त होजाना आवश्यक हो; अथवा काम करनेवालेको दूसरा मनुष्य इस बातका विश्वास दिला दे कि वह उसे और भी कोई काम देगा; अथवा काम लेनेवाला अपनी प्रामाणिकताका प्रमाण दे सकै। इन बातोंके अतिरिक्त किसीको यह नहीं कह सकते कि तुम इस कामको पहिले कर डालो; अनन्तर तुमको इसका पारितोषिक मिलैगा।

जितनी युक्तियां होती हैं वे सब मनुष्यकी योग्यता समझने अथवा उसके द्वारा कोई न कोई काम निकालनेहींके लिए प्रयोगमें लाई जाती हैं। विश्वासके काममें, क्रोधमें और असावधानतामें मनुष्य की योग्यताका पूरा पूरा ज्ञान होजाता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य जब कोई ऐसा काम कर बैठता है जिसको उचित सिद्ध करनेके लिए उसे योग्य कारण नहीं ढूंढे मिलता तब भी उसकी परीक्षा हुए विना नहीं रहती। जिससे कोई काम लेना है उसके स्वभाव और वर्त्ताव का भली भांति ज्ञान होना चाहिये, जिसमें अभीष्टसाधनकी ओर उसे आकृष्ट करसकैं; अथवा उसका आशय समझना चाहिए, जिसमें समझा बुझाकर उसके मनमें उसीका सा भाव दृढ़कर सकैं; अथवा उसकी न्यूनता और व्यंग्य समझमें आजाने चाहिए, जिसमें उसे डरा सकैं; अथवा उसके इष्ट मित्रोंके नाम विदित होने चाहिये, जिसमें उनके द्वारा उसपर बल प्रयोग कर सकैं।

कपटी और धूर्त लोगोंके साथ व्यवहार करनेमें उनकी बात चीतका ठीक अर्थ जाननेके लिए उनके इष्ट हेतुके समझनेका प्रयत्न करना चाहिए। उनसे जितना कम बोले उतनाहीं अच्छा है; बोले भी तो ऐसे विषय में बोले जिससे उनका बहुतही थोडा सम्बन्ध हो।

जितने कठिन काम हैं उनके तत्काल सिद्ध होनेकी आशा न रखनी चाहिये। आरम्भके अनन्तर कार्यसाधनकी सामग्रीका ठीक ठीक प्रबन्ध करके धीरे धीरे उसे परिपक्व होने देना चाहिये।

विवाह और अविवाहित्व २५.

सानन्दं सदनं सुताश्च सुधियः कान्ता न दुर्भाषिणी
सन्मित्रं सधनं स्वयोषिति रतिश्चाज्ञापराः सेवकाः।
आतिथ्यं शिवपूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्नपानं गृहे
साधोः संगमुपासते हि सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः॥

भर्तृहरि।

स्त्री और लड़के बाले होनेसे मनुष्य प्रारब्धके आधीन सा होजाता है। बड़े बड़े काम उससे नहीं होसकते—चाहै वह काम काज भले हों अथवा बुरे; क्योंकि, स्त्री पुत्रादि साहसके कार्योंके प्रतिबन्धक होते हैं। यथार्थमें उत्तमोत्तम और लोकोपयोगी जितने काम हुए हैं वे सब अविवाहित और सन्ततिहीन मनुष्योंहींके हाथसे हुए हैं। एतादृश मनुष्य सर्वसधारणको अपना प्रेमपात्र बनाकर मानों उन्ही को संवरण करते हैं और अपनी सारी सम्पत्ति भी मांनो उन्हीको अर्पण करते हैं। जिनके लड़के बाले हैं उन्हींको विशेष करके भविष्यत् की सबसे अधिक चिन्ता रहती है; कारण यह है कि, वे जानते हैं कि, भविष्यतहीमें हमारी सन्ततिको सांसारिक व्यवसायोंमें लीन होना होगा। बहुतेरे अविवाहित मनुष्य भविष्यत्का कुछ भी विचार

---

१ आनन्दमय घर, बुद्धिमान् पुत्र, मिष्ठाभषिणी स्त्री, धनी सन्मित्र, स्वस्त्री मे प्रेम, आज्ञाकारी सेवक, अतिथि का आदर, शिवपूजन, प्रतिदिन उत्तम भोजन, सतत साधुसमागम;—जिसके प्रतापसे ये सब प्राप्त होते हैं वह गृहस्थाश्रम धन्य है।

नहीं करते। वे यह समझते हैं कि जो कुछ है हमी तक है। आगे कुछ नहीं। कोई कोई मनुष्य ऐसे भी होते हैं जो यह समझते हैं कि स्त्री और लड़के बाले व्ययका कारण मात्र हैं। उनके खाने पीने और वस्त्राच्छादन आदिका प्रबन्ध करना मानो "व्हाइटवे लेडला ऍंड कम्पनी" के बिल चुकाना है। यही नहीं किन्तु कोई कोई ऐसे भी मूर्ख, धनी और मक्खीचूस पड़े हैं जो सन्तान न होना भूषण समझते हैं। वे यह जानते है कि निरपत्य होनेसे हम औरोंकी अपेक्षा अधिक धन सम्पन्न देख पड़ते हैं। स्यात् इन लोगोंने इस प्रकारकी बातचीत कभी सुनी होगी। एकने किसीसे कहा " अजी तुमने सुना है वह बड़े पैसेवाले हैं "। इसपर दूसरेने उत्तर दिया " जीहां; परन्तु तुम नहीं जानते उनके पीछे लड़के बालोंका कितना झगड़ा है "। मानो बालबच्चोंके पालन पोषण करनेसे सम्पत्ति कम होजाती है। परन्तु विवाह न करनेका सबसे साधारण कारण स्वतन्त्र रहनेकी इच्छा कहना चाहिए। स्वच्छन्दशील, विनोदी और केवल अपनेही सुख को सुख जाननेवाले लोग स्वतंत्र रहनेहीकी इच्छासे विवाह नहीं करते। प्रत्येक अटकावकी बात उनके चित्तमें ऐसी चुभती है मानो किसी दिन वे अपने कमरबन्द और मोजे बांधनेके फीतेकोभी बन्धन और बेडीके समान समझने लगेंगे। अविवाहित मनुष्य सर्वोत्तम मित्र, सर्वोत्तम स्वामी औरसर्वोत्तम सेवक होते हैं;परन्तु प्रजाका राजाके विषय में जो धर्म है उसके परिपालनमें सदैव सर्वोत्तम नहीं होते। स्थानान्तरमें चले जाना तो उनके लिए कोई बातही नहीं है।भागेहुए सारे मनुष्य प्रायः अविवाहितही होते हैं।

धर्मोपदेशकोंको अविवाहित रहना अच्छा है;क्योंकि गृहस्थाश्रमके फंदेमें फँसजानेसे सर्वसाधारणके हितसाधनकी ओर उनकी प्रवृत्ति कम होजाती है। न्यायाधीशोंके लिये विवाह करना और न करना दोनों बराबर है। यदि वे कानके कच्चे और उत्कोचग्राही हुए तो उनसे अपना काम निकालनेके लिए स्त्रीकी अपेक्षा कई गुणा

बढ़कर उनका एक आध नौकर मिल जाता है । सैनिक सिपाही लोगोंकी यह बात है कि उनके अधिकारी सेनानायक युद्धमें पराक्रम दिखलानेके लिए उत्तेजित करनेके समय बहुधा उनको उनके स्त्री पुत्रादिहीका स्मरण दिलाते हैं । हमारी समझमें तुर्कलोगोंके नीच जातिवाले सिपाही जो पराक्रमी नहीं होते उसका यही कारण है कि वे लोग विवाह करना तुच्छ मानते हैं ।

सत्य तो यह है कि स्त्री और लड़के वाले मनुष्यके लिए दया दाक्षिण्यादि गुणोंके शिक्षक समझने चाहिए । जिनका विवाह नहीं हुआ उनके यहां परिमित व्यय होनेके कारण द्रव्यसञ्चय विशेष होता है, परन्तु, दयालुता और धार्मिकता जागृत होनेके जितने प्रसङ्ग स्त्री पुत्रादिके मध्य रहनेवाले कुटुम्बवत्सल मनुष्यको आते हैं उतने अविवाहित मनुष्यको नहीं आते । इसी लिए अविवाहित लोग अधिक निर्दय और पाषाणहृदय होते हैं ।

जो मनुष्य स्वाभाविक गम्भीर होते हैं वे अपनीही स्त्रीमें रत रहते हैं और उसे विशेष प्रेम दृष्टिसे देखते हैं । यूलीस्पस[1] ऐसाही था । पतिव्रता स्त्रियां अपने शुद्धाचरणके बलपर बहुधा गर्विष्ठ और हठी होती हैं । जो लोग अपनी स्त्रियोंकी दृष्टिमें बुद्धिमान जंच जाते हैं उनकी स्त्रियां सदैव उनके आधीन रहती हैं और उनको छोड अन्यकी ओर दृक्पात तक नहीं करतीं । परन्तु स्त्रियां जब यह समझ जाती हैं कि हमारा पति हमारे विषयमें सशंक है तब कदापि वे उसे बुद्धिमान् नहीं मानतीं; अतः वे उसके वशीभूतभी नहीं रहतीं । मनुष्यके तरुणवयमें स्त्री गृहिणीका काम देती है, मध्यमवयमें

---

१ यूलीस्पस ग्रीसमें इथाकाका राजाथा । इसने एक पत्नीव्रत तो न धारण कियाथा परन्तु अपनी पत्नी पिनिलोपपर अतिशय प्रेम रखता था । ग्रीसके पुरातन कवि होमरने ऑडेसी नामक काव्यमें इसका विस्तृत वर्णन किया है । ट्रायके युद्धमेंभी यह विद्यमान् था । वहां बड़े बड़े पराक्रमके काम इसने किए हैं।

सखीका काम देती है और उत्तर वयमें दासीका काम देती है। इस लिये मनुष्य चाहे जिस वयमें विवाह करनेकी इच्छा करै इन बातों मेसे एक न एक उसके लिए विवाह करनेका कारणरूप प्रस्तुतही रहतीहै। थेलिसे नामक एक परम चतुर और प्रसिद्ध तत्त्ववेत्तासे जब यह किसीने पूंछा कि "विवाह कब करना चाहिए?" तब उसने उत्तर दिया कि "युवाको अभी न करना चाहिए और वृद्धको तो कभी करना ही न चाहिए" यह बहुधा देखने में आया है कि जो लोग क्रुर स्वभावके होते हैं उनकी स्त्री बहुत सुशीला होती है। नहीं जानते इसका क्या कारण है? कभी कभी किसी विशेष अवसरपर पतिदेवताकी थोड़ी बहुत कृपा कटाक्ष अपने ऊपर हुई देख उसको अधिक परिमाणमें सम्पादन करनेकी इच्छासे वे विनयसम्पन्नता दिखलाती हैं; अथवा पतिका क्रूर व्यवहार सहन करके भी सुशीलता दिखाना वे भूषण समझती हैं; यथार्थ क्या है नहीं कह सकते। हां, यदि किसी स्त्रीने अपने इष्ट मित्रोंके उपदेशको न सुनकर, हठपूर्वक, किसीके साथ विवाह किया और वह दुःशील निकला, तब वह स्त्री अवश्यमेव उसके साथ सहनशीलता व्यवहार करैगी। उस दशामें अपनी मूर्खताको छिपाने के लिए उसे इस प्रकारका आचरण स्वीकार करनाहीं पड़ैगा।

---

१ ग्रीसके ७ चतुर मनुष्योंमेंसे थेलिस भी एक था। इसने ज्योतिष और ज्यामिति शास्त्रमें बड़ी पारंगतता प्राप्तकीथी। इसने विवाह नही किया। जब जब इसकी मा इससे विवाह करने को कहतीथी तब तब वह यही उत्तर देताथा कि अभी मेरा वय विवाह करनेके योग्य नहीं। अधिक वयस्क होनेपर जब यह प्रश्न फिर उससे किया गया तब उसने कहा कि अब मेरा वय इतना होगया है कि इस समय विवाह करना मूर्खताहै। यह ५६ वर्षका होकर ईसाके ५४८ वर्ष पहिले मृत्युकोप्राप्त हुआ।

धृष्टता।

उचितमनुचितं वा कुर्वते कार्यजातं,
न तदपि परितापं यान्ति धृष्टाः कदापि।

स्फुट।

यद्यपि यह बात छोटे छोटे पाठशालाओंमे पढनेवाले लडकोंको भी सिखलाई जाती है तथापि वह बुद्धिमान् मनुष्यके भी विचार करने योग्य है। बात यह है। एकबार किसीने डिमास्थनीजसे पूंछा कि, "वक्ता का मुख्य गुण कौन है?" उसने उत्तर दिया, "अभिनय"। तब उस मनुष्यने पूँछा. "अच्छा इससे उतर कर कौन गुण है?" फिर भी उसने उत्तरदिया, "अभिनय"। जब तीसरी वार उसने पूंछा तब भी उसने वही उत्तर दिया, "अभिनय"। वास्तवमें जिस गुणकी उसने इतनी प्रशंसा की वह उसमें स्वभावसिद्ध न था परन्तु अभ्याससे उसने यह सिद्धकर दिखाया था कि अभिनय अर्थात् बोलनेके समय हाव भाव दिखलानाही वक्ताका प्रधान गुण है। अभिनय एक ऐसा गुण है जिसकी आवश्यकता वक्ताकी अपेक्षा नटको अधिक होती है; वक्ताके लिए तो वह बाह्य उपकरण मात्र समझना चाहिए। तथापि कल्पनाशक्ति, भाषणपद्धति; तथा और और गुणोंकी अपेक्षा अभिनयहीको श्रेष्ठत्व देना-श्रेष्ठत्व क्या देना किन्तु उसीको वक्तृताका सर्वस्व समझना आश्चर्य की बात है। परन्तु कारण इसका स्पष्ट है। मनुष्य मात्रमें स्वभावतः बुद्धिमत्ता की अपेक्षा मूर्खता का अंश साधारणतया अधिक रहता है

---

१ धृष्ट मनुष्य उचित अथवा अनुचित सभी काम करते हैं और करके पश्चात्ताप नहीं पाते।

२ डिमास्थनीज ग्रीसकी राजधानी एथन्समें ईसाके ३८५ वर्ष पहिले उत्पन्न हुआथा। यह एक प्रख्यात वक्ताथा। पहिले इसे अच्छी प्रकार बोलना न आता था परन्तु इसने अपने मुखमें पत्थर की गोलियां रख रखकर और समुद्र के तटपर जहां तरंगोंका घोर शब्द होताथा वहां जा जा कर मेघगम्भीरध्वनिसे वक्तृता करनेका अभ्यास किया।

अतएव जिसके द्वारा मूर्खता का अंश मोहित होजाताहै वह गुण अधिक प्रभावशाली होताहै।

वक्ताके लिए जैसे अभिनय की आवश्यकता है राजकाजमें उसी प्रकार धृष्टताकी आवश्यकता है। राजप्रकरणमें धृष्टता का प्रभाव सबसे अधिक आश्चर्यजनक है।यदि कोई पूंछे कि इस प्रकरणमें प्रथम गुण कौन है? तो यही उत्तर देना पडैगा कि धृष्टता। दूसरा गुण कौन है? वही धृष्टता। तीसरा गुण कौन है? फिर भी वही धृष्टता। यथार्थमें अज्ञान और निर्लज्जताकी धृष्टता कन्या है और अन्यान्य गुणोंकी अपेक्षा उसकी योग्यता बहुतही कम है। तथापि अप्रगल्भ और थोड़े धैर्यके जो लोग हैं—और बहुधा ऐसेही मनुष्यों की संख्या अधिक होती है—उनको वह अवश्यमेव मोहित करलेती है। यही नहीं किन्तु बड़े बड़े चतुर मनुष्योंको भी, जब कभी उनका चित्त द्विविधामें पड़जाता है तब, वह अपने पाशमें फांस लेतीहै। यही कारण है कि प्रजासत्तात्मक राज्योंमें धृष्ट मनुष्योंने विलक्षण विलक्षण काम किए हैं। परन्तु धृष्टताका प्रभाव राजा तथा राजसभाओंपर कुछ कम पड़ता है। यह भी ध्यानमें रखना चाहिए कि धृष्टमनुष्योंकी पूंछ और प्रशंसा जितनी पहिले होती है उतनी पीछे नहीं होती; क्यो कि, ऐसे लाग कही हुई बातको पूरा करनेमें समर्थ नहीं होते।

शरीरमें औषधोपचार करनेका भाव दिखलानेवाले जैसे अपढ़ भोंदू वैद्य होतेहैं वैसेही राज्यमें भी सुव्यवस्था करनेका भाव दिखलानेवाले साहसी भोंदूहोते हैं। काकतालीयन्यायसे एक दो बार सौभाग्यवश यशस्वी होनेपर इन लोगोंका साहस यहांतक बढ़ जाता है कि वह बड़ेसे बड़े काम करनेको भी कमर कसते हैं। परन्तु शास्त्रज्ञान नहोनेके कारण इन लोगोंके मानभङ्गका शीघ्रही अवसर आता है। कोई कोई धृष्ट मनुष्य बहुधा मुहम्मदके सदृश अद्भुत अद्भुत चमत्कार दिखलाने लगते हैं। एकबार मुहम्मदने लोगोसे यह गप्प हांकी कि "मैं इस पहाड़ीको अपने पास बुलाताहूं और उसके आनेपर मैं

उसके शिखरपर आरूढ होकर अपने अनुयायी जनोंके कल्याणार्थ ईश्वरसे प्रार्थना करूंगा" इस अघटित घटनाको देखनेके लिए लोग एकत्र हुए। मुहम्मदने वारंवार पहाड़ीको अपनी ओर आनेके लिए आह्वान किया परन्तु जब वह पहाड़ी अपने स्थानसे न हिली तब किंचिन्मात्र भी लज्जित न होकर उसने कहा कि "यदि पहाड़ी मुहम्मदके पास नहीं आती तो मुहम्मद स्वयमेव पहाड़ीके पासजावैगा इसी भांति ये साहसी लोग जब जब बड़े बड़े कामकरनेका प्रणकरके अन्तमें फलीभूत नहीं होते तब तब अपने उपहासकी ओर लेशमात्रभी दृक्पात न करके उसकामको छोंड अन्यकीओर प्रवृत्त होतेहैं और ऐसा भाव बताते हैं जैसे कुछ हुवाही न हो।

यथार्थतः विचारशील मनुष्योंको, धृष्टलोगोंके काम देखकर, कौतुक होता है। यही नहीं किन्तु अप्रगल्भ और ग्राम्यजनोंकाभी धृष्टता कुछ कुछ हास्यास्पद जान पड़ती है। कारण यह है कि हँसी मूर्खताको देखकर आतीहै और धृष्टतामें थोडी बहुत मूर्खता अवश्यमेव रहतीही है, अतः साहसिकलोगोंके साहसको देखकर छोटे छोटे आदमीभी हसैंगे इसमें सदेह नही।कामकाजमे विफलप्रयत्न होनेसे धृष्ट लोगोंकी जब हँसी होती है तब बडाआनन्द आता है।उस समय उनका मुख छोटा सा हो जाता है और उसपर कालिमां छा जाती है।ऐसा होनाही चाहिए, क्योंकि लज्जाके कारण मुखकी आभा चढा उतरा करती है। परन्तु ऐसे अवसरपर धृष्ट मनुष्य काष्ठवत् स्तब्ध रहते है; उनका उत्साह नहीं भंग होता। प्यादा यद्यपि बादशाहकी बराबरी नहीं करसकता तथापि शतरञ्जमे कभी कभी वह ऐसे घरमें पहुंच जाता है कि उसके कारण बादशाह अपने स्थानसे नहीं हटसकता, जहां का तहांही रहजाता है। बस, धृष्टलोगोंकी भी पराभवके समय ठीक यही दशा होती है। परन्तु इस प्रकार लोगोंकी मुखचर्याका निरीक्षण करके उसपर टीका करना अन्य विषयोंको छोंड़ प्रहसन इत्यादिहीमें विशेष शोभा देता है।

यह ध्यानमें रखना चाहिए कि धृष्ट मनुष्योंको असुविधा और संकट नहीं देख पड़ते; उनको देखनेके लिए मानो ऐसे मनुष्योंके नेत्रही नही होते। जो धृष्टस्वभावके हैं उनसे किसी विषयमें सलाह लेना अच्छा नहीं। उनसे काममात्र करालेना चाहिए। इसी लिए यदि धृष्टलोगोंको ठीक ठीक उपयोगमें लाना हो तो किसी काममे उनको स्वतंत्र अधिकार न देना चाहिए। उनको प्रथम स्थान न देकर द्वितीय स्थान देना चाहिए और किसीके निरीक्षणमें रखना चाहिए।कारण यह है कि किसी विषयका परामर्श करते समय भावी विघ्नोंको पाहिलेहीसे देख लेना अच्छा होता है और काम करते समय यदि विघ्न बहुत बड़े न हुए तो, उनका न देखनाही अच्छा होता है।

क्रोध।

अपनेयमुदेतुमिच्छता तिमिरं रोषमयं धिया पुरः।
अविभिद्य निशाकृतं तमः प्रभया नांशुमताप्युदीयते॥

किरातार्जुनीय।

स्टोइकमतवाले तत्ववेत्ता क्रोधको समूल उन्मूलन करना शौर्य का काम समझते हैं। धर्म्माधिकारियोंने कहा है "क्रोध करो परन्तु क्रोधके वशीभूत होकर पाप मत करो"। यह वचन हमको अधिक सुहावना लगता है। क्रोध को नियमित रखना चाहिए; मर्यादाके बाहर उसे न जाने देना चाहिए। क्रोध आता देख समय कुसमय का विचार न करके शीघ्रता भी न करनी चाहिये।

जो मनुष्य स्वभावही से क्रोधी होते हैं अनके क्रोधको किस प्रकार नियमित और शान्त करना चाहिए,—पहिले इस विषयमें कुछ कहैंगे।

---

१ जिसकी यह इच्छा है कि हमारा अभ्युदय हो उसे पहिले विवेकद्वारा क्रोधरूपी अज्ञानका नाश करना चाहिए। देखिए, इतना प्रचण्ड तेजःपुञ्ज सूर्य भी रात्रिके अन्धकार को अपनी प्रभासे नाश किए बिना उदय नही पाता।

फिर इस विषयमें कहेंगे कि क्रोधके विशेष विशेष वेग किस प्रकार रोंके जा सकते हैं; अथवा ऐसे वेगके कारण किस प्रकार मनुष्य अपकारसे बच सकते हैं। तदनन्तर दूसरे मनुष्यमें किस प्रकार क्रोध उत्पन्न कर दिया जा सकता है अथवा जागृत हुआ क्रोध किस प्रकार शान्त किया जा सकता है,-इस विषयमें कुछ कहेंगे।

प्रथम विषय; क्रोधके वशीभूत होनेसे मनुष्यका जीवन कैसा दुःसह होजाता है और क्रोधका परिणाम कैसा भयङ्कर होता है —इन बातोंका विचार भली भांति ध्यानपूर्वक करना चाहिए। इसके अतिरिक्त क्रोधसे बचने का अन्य उपाय नहीं है। एतादृश विचार करने का सर्वोत्तम समय वह है जब क्रोध का कुछभी वेग मनुष्यमें शेष नहीं रहजाता; अर्थात् जिस समय क्रोधका अत्यन्ताभाव होजाता है उससमय उसके परिणामकी ओर दृष्टि देनी चाहिए। सेनेका नामक तत्ववेत्ताने क्रोधकी उपमा जीर्णवस्तुसे दीहै। जिसप्रकार जीर्णपदार्थ जिसपर गिरते हैं उसे क्षति पहुँचानेके पहले स्वयमेव टूटकर टुकड़े टुकड़े होजाते हैं उसीप्रकार क्रोधआनेपर दूसरे की अपेक्षा सर्वतोभावसे अपनीही हानि अधिक होती है। धर्मशास्त्रकी यह आज्ञा है कि मनुष्यको कभी क्षुब्ध न होना चाहिए; मनको सदैव अपने वशमें रखना चाहिए। क्षोभ होतेही, मन हाथसे निकल जाता है और आत्मसंयमन, जो मनुष्यमात्रका कर्तव्य कर्म है, वह नहीं होसकता। मनुष्योंको मधुमक्षिकाओंका सा आचरण करना सर्वथा अनुचित है। मधुमक्षिकायें क्रोधाविष्ट होकर जिसको दंश करती हैं वह उन्हें दंश करतेही तुरन्त मारडालता है, अर्थात क्रोधही उनके नाशका कारणहोता है। क्रोध करनेसे स्वयं क्रोधकरनेवालेहीकी हानि होती है अतः मनुष्यको क्रोधसे सदैव बचना चाहिये।

क्रोध एक प्रकारका महाअधम दुर्गुण है। वह विशेष करकै लड़के स्त्री वृद्ध और रोगी मनुष्योंमें अधिक पायाजाता है। जिनमे क्रोधका प्राबल्य होता है उनकी योग्यताभी अवश्यमेव कम होती है। दूसरेके

द्वारा किएगए अपने अपकारको देख 'पुनर्वारभी यह ऐसा न करे' इस प्रकार मनमें सशङ्क होकर क्रोधवश उससे बदलालने के लिए सन्नद्ध होना चाहिए । ऐसे अवसरपर अपकार करनेवाले को तिरस्कारदृष्टिसे देख शान्त रहनाही उचित है। इस प्रकारके आचरणसे यह प्रमाणित होजायगा कि तुम अपने प्रतिपक्षीको नीचदृष्टिसे देखते हो और तत्कृत अपायको अपायही नहीं मानते । मनोनिग्रहका अभ्यास होनेसे ऐसा व्यवहार करनेमें कोई कठिनता नहीं पड़ती ।

दूसरा विषय । विशेषकरके क्रोधके कारण और निमित्त केवल तीन हैं । प्रथमकारण—अन्यकृत थोड़ेभी अपकारको बहुत मानकर विषाद करना है । जबतक मनुष्य यह नही समझता कि मेरा अपकार दूसरेने किया है तबतक उसे क्रोधही नहीं आता । कोमलान्तःकरण और मनस्वी मनुष्योंके प्रतिकूल अणुमात्र भी कोई बात होनेसे उन्हें अतिशय विषाद होता है; इसी लिए वे बहुधा क्रोध के वशीभूत हो जाया करते हैं । जो मनुष्य बलिष्ट और दृढ स्वभावके होते हैं उनपर छोटी छोटी बातोंका कुछ भी प्रभाव नहीं होता अतएव उनको क्रोध भी नहीं आता । दूसरा कारण--दूसरेके द्वारा किए गये अपकारको अपने अपमानका हेतु समझना है । स्वयं अपकारसे जितना क्रोध उत्पन्न होता है उतनाही—अथवा उससे भी अधिक--अपमानसे होता है। यही कारण है कि जब मनुष्य स्पष्टतया दूसरोंकी हेलना करनेहीके निमित्तसे उनको हानि पहुँचाते हैं तब उनके क्रोधकी सीमा नहीं रहती । तीसरा कारण--लोकमें अपनी अकीर्त्तिका होना है । जब कोई मनुष्य यह सुनताहै कि , अमुक व्यक्ति हमारा दुर्लौकिक करनेके लिए हमारे विषय में प्रतिकूल चर्चा करता है तब उसका कोप अतिशय प्रज्वलित हो उठता है । दुःशील लोगोंसे अपनी कीर्त्तिको रक्षित रखने का एकही उपाय है । वह यह है कि कीर्त्ति ऐसी विशद और विस्तृतहो जिसको एतादृश क्षुद्रजनोंके द्वारा सहस्रशःउपाय किये जानेपर भी धक्का न पहुंचे । क्रोध शान्तकरनेका सबसे उत्तम उपाय विलम्बकरना है ।

जिससमय क्रोध का वेगहो उस समय कोई उचित अनुचित बात न करके कुछ देर ठहर जाना चाहिए और मनमें यह मान लेना चाहिए कि अपने प्रतिपक्षिसे बदला लेने का समय अभी नहीं आया। तत्काल यह कल्पना करनी चाहिए कि आगे बदला लेने का समय आवेगा और आनेपर हम उस नराधम को अवश्यमेव इसके किए का फल चखावेंगे इस प्रकार उस समय चित्तको क्षुब्ध न करके चुपचाप रहना चाहिए और क्रोधके वशीभूत न होजाना चाहिए।

क्रोधाविष्ट होनेपर क्रोधके कारण अनिष्ट होनेसे बचने के लिए; विशेष करके दोबातें ध्यानमें रखनी चाहिए। एक तो यह कि क्रोधके वेगमें कठोरशब्दोका उपयोग न करना चाहिए, विशेष करके मर्मभेदक वाक्यवाण तो कदापि न छोड़ने चाहिए। सामान्यशब्दोंसे अधिक हानि की संभावना नही रहती। यह भी स्मरण रहै कि क्रोधके कारण आवेशमें आकर दूसरेके गुप्तरहस्योंका स्फोट न करना चाहिए क्यों कि जो मनुष्य रहस्य भेद करता है वह समाजमें रखने के योग्यही नहीं है। दूसरी बात यहहै कि कलुषितचित्त होकर किसी कामको बीचहीमें छोडना अच्छा नही। कोप चाहै कितनाही प्रचण्ड क्यों नहो उससमय कोई काम ऐसा न करना चाहिए जिसके लिये पीछे पश्चात्ताप करना पड़ै।

तीसरा विषय--दूसरोंके क्रोधको प्रवृद्ध करने तथा बढेहुए क्रोधको शान्त करनेके लिए समयानुसार काम करना उचित है। क्रोधको उत्तेजित करना हो तो जिस समय दूसरे मनुष्यका अन्तःकरण विकृत होता है और चित्त उसका क्षुब्ध है उस समय उसको भलीबुरी बातैं सुझानी चाहिए। इसके अतिरिक्त जिसके ऊपर क्रोधको बढाना है तद्विषयक ऐसी वार्त्ता करनी चाहिए जिससे दूसरे मनुष्यका अर्थात् जिसके साथ बात कररहे हैं उसका, अपमान होता है। क्रोधको बाढ़नेके जो उपाय है उनके प्रतिकूल उपायोंका अवलम्बन करनेसे शान्ति होती है। अर्थात् जिस समय मनुष्यका चित्त पहिलेसेही

कुछ कुपित सा होताहै उस समय क्रोध आनेकी कोई बात कहनेसे वह औरभी करालरूप धारण करता है। परन्तु जिस समय मनुष्यका मन प्रसन्न होता है उस समय यदि क्रोधोत्पादक भा कोई बात कही जाय तो उसका प्रतीकार शीघ्रही होसकता है। ऐसे अवसरपर यह कहकर दूसरेके क्रोधको रोक सकते हैं कि अमुक मनुष्यने जो कुछ कहा वह आपका अपमान करनेके हेतुसे नहीं कहा किन्तु भूलसे कहा अथवा और किसी कारणसे जो तुमको समञ्जस जान पड़े तुम कहसकते हो।

भाग्योदय।

पूर्वजन्मजनितं पुराविदः कर्म दैवमिति सम्प्रचक्षते।
उद्यमेन तदुपार्जितं चिराद्दैवमुद्यमवशं न तत्कथम्।

स्फुट।

इसको कौन नहीं स्वीकार करैगा कि मनुष्य का भाग्योदय बहुधा आकस्मिक घटनाओं पर निर्भर रहता है ? बड़े बड़े लोगोंका अनुग्रह योग्यता प्रकाश करनेका अवसर दूसरोंका मृत्यु इत्यादि बातें भाग्योदय का कारण समझना चाहिए। परन्तु पूर्वापर विचार करनेसे यही कहना पड़ता है कि मनुष्य का सौभाग्य मनुष्यही के हाथमें है। एक कविने कहा है कि सौभाग्यरूपी मंदिर का बनानेवाला शिल्पकार मनुष्यही है। यह उक्ति बहुत यथार्थ है।

सौभाग्यको उदय करनेवाली जितनी आकस्मिक घटनाएं हैं उन सबमेसे भाग्योदय का मूल कारण "एक की भूल–दूसरे का लाभ है"। दूसरे के प्रमाद और दूसरे की असावधानतासे जितना लाभ होता है उतना अन्यद्वारा नहीं होता। किसीने ठीक कहा है कि सर्प जबतक दूसरे सर्पको नहीं खाजाता तबतक वह स्वयं बडा और भयङ्कर

---

१ पूर्वजन्ममें किएहुए कर्मको पुरातत्त्ववेत्ता दैव कहते हैं। यह कर्म जिसे वह दैव कहते है चिरकाल उद्योगहीसे उपार्जित होता है,–अतः दैव भी उद्यमही के वश है यह क्यों न कहना चाहिए।

नहींहोता। किसी किसी विषयमें ऐसे अनेक कौशल हैं जिनको मनुष्य सहजहीमें समझ सकते हैं, उनकी प्रशंसा करसकते हैं और अनुकरणद्वारा उनसे लाभ भी उठासकते हैं; परन्तु भाग्यवान् होनेके कौशल ऐसे गुप्त हैं कि उनका जानना सबका काम नहीं है उनको जो जानते हैं वे, चाहे जैसा अवसर आन पड़े, शान्तचित्त होकर ऐसे चातुर्य का वर्त्ताव करते हैं और अपनी बुद्धिकोसमयानुसार "चक्रनेमिक्रमेण" ऐसी सामञ्जसीभूत करदेतेहैं कि इष्टसिद्धी हुए विना नहीं रहती। लीवी नामक रोमन कविने केरो मेजरके विषयमें कहा है कि वह ऐसा चाणाक्ष था और उसकी शारीरिक तथा मानसिक शक्ति ऐसी प्रबल थी कि उसका चाहे जहां जन्म होता वह अवश्यमेव भाग्यशाली पुरुष होता। अतः यह सिद्ध है कि जो चतुर मनुष्य सावधान होकर सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेका प्रयत्न करेगा उसका भाग्योदय अवश्य होगा, क्योंकि भाग्यके यद्यपि नेत्र नही होते तथापि भाग्यवान् होनेकी इच्छा रखनेवालोंके नेत्र होते हैं।

भाग्योदय आकाशगंगा के समान है। आकाश गंगा छोटे छोटे तारागणोंका एक स्तबक मात्र है। ये तारागण पृथक् पृथक् नहीं दिखाई देते परन्तु एकत्र होनेसे दीप्तिमान् होजाते हैं और आकाश को प्रकाशित करते हैं। इसी प्रकार सौभाग्य का कोई नियत मार्ग नहीं है। छोटे छोटे गुण, बुद्धिकौशल्य, तथा देशकी साधारण रीतियां—यही सब मनुष्यके भाग्योदय का कारण होते हैं। इटली के निवासी बहुतसी ऐसी छोटी छोटी बातोंको सौभाग्यका कारण बतलाते हैं जो क्वचितही और किसी मनुष्यके ध्यानमें आती होंगी। वे जब कभी ऐसे मनुष्यके विषयमें भाषण करते हैं जिससे कभी किसी प्रकार की भूल होतीही नहीं तब वे उस बातको किसी दूसरे प्रसंगमें डाल देते हैं अर्थात् वे यह सिद्ध करते हैं कि एतादृश निष्कलंक व्यवहार किए विना अमुक व्यक्तिका निर्वाहही नहीं हो सकता; इसीसे विवश होकर वह ऐसा करता है। इस प्रकार उस मनुष्यके आचरणकी आलोचना करके वे कहते हैं कि। "देखो, वह कैसा चतुर पुरुष है"।

भाग्यशाली होनेके लिए मुख्य करके दो बातें आवश्यक हैं। एक तो कुछ न कुछ कपट व्यवहार करना चाहिए और दूसरे प्रामाणिकता को मर्यादा के बाहर न जाने देना चाहिए। यही कारण है कि अतिशय देशाभिमानी और अतिशय स्वामिभक्त लोग कभी भाग्यवान् नहीं हुए; और न हो भी नहीं सकते. क्योंकि जब मनुष्य अपनेको छोड अन्य बातोंका विचार करने लगता है तब वह स्वतःकी अनुकूलता की ओर ध्यान नहीं देता !

सत्वर भाग्योदय होनेसे मनुष्य अपरिणामदर्शी होजाता है, और नित्य नए साहसके काम करने लगताहै; परन्तु परिश्रमपूर्वक शनैः शनैःजो उत्कर्ष होताहै उससे मनुष्यकी योग्यता तथा सामर्थ्यकी वड़ाई होती है।

भाग्यवान् पुरुषोंका सन्मान करना और उनको पूज्य मानना उचित है। ऐसेमनुष्य विश्वसनीय और कीर्त्तिमान् होते हैं. इसी लिए लोग उनका इतना आदर करते हैं। विश्वास और कीर्त्ति यह दो सौख्यसाधनके आदिकारण हैं। विश्वाससे स्वयं सुखमिलताहै और कीर्तिसे दूसरोंके द्वारा मिलताहै।

दूसरेके उत्कर्षको देखकर लोग मत्सर करने लगते हैं। इस मत्सरसे वचनेके लिए बुद्धिमान् पुरुष अपने अभ्युदयको ईश्वरदत्त अथवा भाग्यायत्त कहकर अपने महत्वको छिपाते हैं। इस प्रकारका कथन भाग्यशालीजनोंको विशेष हितावह होता है, क्योंकि देवतादिके प्रसादपात्र होनेमें उनका औरभी अधिक गौरव है। एकबार प्रचण्ड आंधीके समय अपने धूमपोतके नायकको सीजरने इसी अभिप्रायसे कहा कि "धूमपोतपर अपने अनुकूल दैवक समेत सीजरके उपस्थित रहते तुझको किसका भय है!" सीलो अपनेको भाग्यवान् कहताथा परन्तु महान्

---

१ सीला रोममें एक प्रख्यात सेनानायक होगया है। यह बड़ाही उग्रस्वभाव वाला था। इसने अनेक बार बड़े बड़े वीरताके काम किए हैं, परन्तु सहस्रशः निरपराध मनुष्योंका वधभी इसने कराया है। इसको एक दूसरे मनुष्यने अपना उत्तराधिकारी बनायाथा जिससे इसे अकस्मात् अपार सम्पत्ति मिलगई थी। ६९ वर्षके वयमें ईसाके ७८ वर्ष पहिले इसकी जीवनलीला सम्वरण हुई।

नहीं और यह बात प्रसिद्ध भी है कि जो मनुष्य अपने व्यवहार, चातुर्य और बुद्धिमत्ताको अतिशय महत्व देते हैं वे अन्तमें भग्नोद्यम होकर अवश्यमेव अभाग्यके पाशमें फँसते हैं ।

भ्रमात्मक धर्मभीरुता।

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा।
तमविज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥
यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्।
हित्वार्चां भजते मौढ्या स्मन्येव जुहोति सः॥

श्रीमद्भागवत।

ईश्वर के जो योग्य नहीं है ऐसा मत कल्पना करने की अपेक्षा ईश्वरके विषय में कुछ भी ज्ञान न होनाही अच्छा है; क्यों कि ईश्वर का अस्तित्व न मानने से केवल नास्तिक ताही होती है, परन्तु तद्विषयक अनुचित मत स्थिर करनेसे ईश्वर की विडम्बना होती है' प्लूटार्क का भी यही मत है।वह कहता है कि "प्लूटार्क नामक एक मनुष्य था जो अपने लडकों को उत्पन्न होतेही खा जाया करता था"–इस प्रकार लोगोके कहने की अपेक्षा–"प्लूटार्क कोई थाही नहीं", –ऐसा कहना अत्युत्तम है। रोम और ग्रीसके प्राचीन लोग सातर्न (शनैश्वर) नामक एक देव

---

१ जितने भूतहै सबमें मैं उनका आत्मा रूप होकर विराज रहाहूं । उस आत्मारूप मुझको यथार्थतया न जानकर मनुष्य पूजारूपी विडम्बना करतेहैं। समस्त भूतवर्गोंमें विद्यमान् आत्मास्वरूप मुझ ईश्वर को छोड़ जो मनुष्य मूढता वश पूजन पाठ इत्यादि के झगड़ेमें फँसता है उसका वह सब कर्म भस्ममें हवन करनेके समान, निष्फल जाता है।

२ प्लूटार्क नामक ग्रीसमें एक तत्त्ववेत्ता होगया है । पूर्ववयमें इसे उच्च राज्याधिकार प्राप्तथा । यह प्रजावर्ग को अतिशय प्रिय था । राजकाज परित्याग करके अपना उत्तर वय इसने पुस्तकावलोकनमें व्यतीत किया और कई एक उत्तमोत्तम ग्रन्थ लिक्खे । इसके ग्रन्थों में "रोम और ग्रीसके प्रख्यात पुरुषोंका चरित्र" अति प्रसिद्धहै। बहुत वृद्ध होकर १४० ई० में इसकी मृत्यु हुई ।

ताको मानते थे। उसके विषयमें पुरातन कवियोने यह आख्यायिका प्रसिद्धकी थी कि वह अपने लड़के होतेही खाजाया करताथा। इसी आख्यायिकाको लक्ष्य करके प्लूटार्कने उपरोक्त उक्ति कहीहै जिसका यह आशय है कि एतादृश सन्तानभक्षी देवताका अस्तित्व स्वीकार करने की अपेक्षा न स्वीकार करना ही अच्छा है। ईश्वरकी जितनी अधिक विडम्बना होती है भ्रमात्मक धर्मभीरु लोगोंसे प्रजाको उतनाही अधिक भय होता है। नास्तिक होनेसे भी सदसद्विचार, तत्त्वज्ञान, स्वभाविक निष्ठा, व्यवहारपरता और मान सम्भ्रम इत्यादि गुण कही नहीं जाते। अतएव धार्मिकता न भी हुई तो इन गुणोंके द्वारा नास्तिक मनुष्यका आचरण अनीति सङ्गत नहीं होसकता। परन्तु धर्म सम्बन्धी कुसंस्कार ग्रस्त मनुष्योंमें यह बात नही पाई जाती। उनके मस्तकमें जो एकबार समाया वह वज्रलेप होगया। उसमे परिवर्तन होने हीका नहीं। नास्तिकताके कारण राज्यादि बड़ी बड़ी संस्थाओंको कभी धक्का नहीं पहुँचा, कारण यह है कि नास्तिक लोग मरणानन्तर पुनर्जन्म मानतेही नहीं अतः संसारमें बहुत दिन रहनेसे उनको अपना जीवन भारभूत सा होजाता है। नास्तिकता विशेष करके उस समय बढ़ती है जिस समय देशमें पूरी पूरी शान्तता होती है। आगष्टस[१] सीजर का राज्यकाल शान्ततामय था, अतएव उसके समयमे नास्तिक मत बहुत फैला था। परन्तु भ्रमात्मक धर्मभीरुताका परिणाम अतिशय भयङ्कर होता है। उसके कारण अनेक राज्य तहस नहस होगएहैं।

अनुचित धर्मभीरुताका आदि स्थान सामान्य लोग होते हैं। इस प्रकारके कुसंस्कारका अनुष्ठान करनेसे बुद्धिमान भी मूर्खोंका अनुकरण करने लगते हैं, और एक वार उस पक्षको अङ्गीकार करके फिर यह नही

१-आगस्टस सीज़र रोमका द्वितीय सार्वभौम राजा था। इसने ४४ वर्ष शान्ति पूर्वक राज्य करके ७६ वर्षके वयमें सन् १४ ई० मे शरीर परित्याग किया।

सोचते कि जो कुछ हम करते हैं वह यथार्थ है अथवा अयथार्थ । उलटा अपनी भूलको समर्थन करनेके लिए नानाप्रकारके अयुक्ति सङ्गत कोटिक्रम लड़ाते हैं और तद्द्वारा शंका समाधान करने बैठते हैं ।

भ्रमात्मक धर्मभीरुताके कारण ये हैं:—आनन्दोत्पादक तथा विषयोद्दीपक विधि और संस्कार; औरोंको दिखलानेके लिए दाम्भिक धर्म्माचरणकी अधिकता; परम्परागत कथा कहावतके विषयमें अतिशय पूज्यभाव; स्वार्थसाधनके लिए धर्म्माधिकारियोंकी युक्ति प्रयुक्तियां; कर्ताके निंद्य और अविश्वसनीय कर्मोंकी ओर दृष्टि न करके उसके सदुद्देशकी प्रशंसा; मानुषिक कृत्योंसे ऐश्वरीय कृत्योंका अनुमान (इससे तो अनुचित कल्पनाओंकी उत्पत्ति हुए विना नहीं रहती) और असभ्यकाल--विशेषकरके जिसकालमे अनेक अरिष्ट और संकट आते हैं वह । भ्रमिष्ट धर्मभीरुताको उत्पन्न करनेवाले यही सब कारण हैं ।

अनुचित धर्मभीरुताके ऊपर यदि किसीप्रकारका परदा न पडाहो तो वह कुरूप देख पड़ती है । बंदरकी आकृति मनुष्यकीसी होनेसे जैसे वह कुरूप देख पड़ता है वैसेही भ्रमात्मक धर्मभीरुताभी धर्मश्रद्धाके समान देख पडती है अतएव वह और भी घृणित है । और, जैसे अच्छाभी मांस कालान्तरमें कीटमय होजाता है वैसेही प्रथम स्थापन किएगए उत्तम और सदाचार सम्पन्न भी नियम कुछ दिनमें छोटे छोटे संस्कारोंमे विभक्तहोकर अपना निन्दनीय रूप प्रकट करते हैं ।

भ्रमात्मक धर्मभीरुतासे बचनेका अतिशय प्रयत्न करनाभी एक प्रकारकी अनुचित धर्म भीरुता है । परम्परासे जो प्रथा चली आई है उसे छोड़ तत्प्रतिकूल आचरण करनेकी ओर मनुष्योंकी सहसा प्रवृत्ति होना भ्रमसञ्जात धर्मभीरुताके अतिरिक्त और क्या है? अतएव यह ध्यानमें रखना चाहिए कि बुरेके साथ भलाभी (जैसे बुरे विरेचनमें होताहै) न निकल जावे । जब सर्वसाधारणकी प्रवृत्ति धर्मसंशोधनकी ओर झुकती है तब बहुधा अनुचितके साथ उचित भी हाथसे जाता रहता है ।

दाम्भिक बुद्धिमत्ता ।

न भेतव्यं न बोद्धव्यं न श्राव्यं वादिनो वचः ।
झटिति प्रतिवक्तव्यं सभासु विजिगीषुणा ॥

कलिविडम्बन.

किसी किसीका यह मत है कि फ्रान्सके निवासी जितना देख पडते हैं उससे वे अधिक बुद्धिमान् होते हैं और स्पेनके निवासी जितना होते हैं उससे वे अधिक बुद्धिमान देख पडते हैं । देशवासी-जनोंके सम्बन्धमें चाहे यह बात पाई जावे चाहे न पाई जावे परन्तु मनुष्य मनुष्यके सम्बन्धमें यह अवश्यमेव पाई जाती है । एक धर्माचार्यका कथन है कि,—"अनेक लोग सदाचार दिखलानेका मिष मात्र करते हैं परन्तु यथार्थतया उनमे कुछ भी भक्तिभाव नही होता"। इसी प्रकार ऐसे अनेक लोग हैं जो बुद्धिमत्ता और चतुरताका अतिशय हाव भाव दिखलाते हैं । वे कोई काम नहीं करते; किया भी तो बहुत थोड़ा. और सो भी बड़ी गम्भीरताके साथ । जिस विषयको वे नहीं जानते उसका उनको पूर्ण ज्ञान है -इस बातको सिद्ध करनेके लिए "ढोलके भीतर पोल" के उपमाधारी ये लोग ऐसी ऐसी युक्तियां लड़ाते हैं जिनको देख सद्विचारयुक्त मनुष्यको हँसी आती है. यही नहीं, किन्तु तत्सम्बन्धी एक प्रहसन भी लिखने की इच्छा होती है । कोई कोई इतने मितभाषी और अन्तर्ग्रन्थि स्वभावके होते हैं कि स्पष्टतया वह कभी कुछ भी नहीं बोलते । दोचार बात कहते हैं और शेष सब मनका मनहीमे रहने देते हैं, स्पष्ट नही कहते । उस समय वे यह भाव व्यक्त करते हैं कि जानते तो हैं हम परन्तु बतलावेंगे नही । जो कुछ

---

१ यदि यह इच्छा हो कि सभामें हम विजयी हों, तो डरना न चाहिए, प्रकृत विषयको समझनेका यत्न भी न करना चाहिए; और दूसरेकी बातको सुनना भी न चाहिए; बस, उस समय जो कुछ मुखसे निकलै वह, पूछे जाने पर बराबर कहतेही चलेजाना चाहिए ।

वे कहते हैं उसका अर्थ उन्हींको पूरा पूरा नहीं समझ पड़ता; और यह बात वे स्वयं जानते हैं परन्तु बाहरसे सर्वज्ञताका भाव दिखलाते हैं।

बहुतेरे मनुष्य अपनी मुखचर्या, भ्रूविक्षेप और हावभावादिसे अपनी बुद्धिमत्ता प्रकटित करते हैं। सिसरोने पिसोके विषयमें ऐसाही कहा है। उसका कथन है कि जब पिसो उसके प्रश्नका उत्तर देताथा तब वह अपनी एक भ्रुकुटीको तो ऊपर ललाट तक चढ़ाले जाताथा और दूसरीको नीचे ठोंढीतक झुका देता था। कोई कोई बड़े बड़े शब्दोंका प्रयोग करके लक्ष्यपूर्वक भाषण करते हैं। यदि किसी विषयको वे पूर्णतया सिद्ध नहीं कर सकते तो भी हठात् वे यही कहते जाते हैं कि जो कुछ हमने कहा वही यथार्थ है और बराबर बोलतेही चले जाते हैं। बहुत ऐसे होते हैं कि जो बात वे नहीं समझते उसे वे तुच्छ मानते हैं और उसको निरुपयोगी तथा तिरस्कार्य कहकर अपने अज्ञानको छिपाते हैं।

किसी किसीको भेदभाव करनेका स्वभाव पड़जाता है। ऐसे मनुष्य क्लिष्टकल्पना द्वारा सूक्ष्मसे सूक्ष्म भेद निकालकर लोगोंका मनोरञ्जन करते हैं। इस प्रकार अर्थच्छल करके मूल विषयका वे उत्थानही नहीं होने देते। ऐसे लोगोंका उपहास करनेके लिए प्लेटोने एक संदर्भ लिखाहै

---

१ पिसो रोममें एक प्रसिद्ध पुरुष होगया है। यद्यपि वह कृपण था तथापि वह एक प्रख्यात वक्ता, व्यवहारदर्शन वेत्ता और इतिहासज्ञ था। लगभग १४९ वर्ष ईसाके पहिले वह विद्यमान् था।

२ प्लेटो ग्रीसमें एक अति व्याख्यात तत्त्ववेत्ता हुआ है। उसके नामसे प्रायः सभी लिखे पढ़े मनुष्य परिचित हैं। उसका नाम अरिस्टाक्लिस था परन्तु उसके कन्धे अतिशय विस्तृत होनेके कारण लोग उसे प्लेटो कहकर पुकारने लगे। शारीरिक और मानसिक दोनों शिक्षा इसको पूर्णरूपसे दीगई थी। चित्रकला और कवितामें इसने पहिले पहिल विशेष अभ्यास किया था। कवितामेंतो इतना नैपुण्य इसने प्राप्त किया था कि थोड़ीही अवस्थामें इसने एक उत्तम काव्य लिखाथा। परन्तु जब इसने उसे होमरके काव्यसे मिलाकर देखा तब उससे अपने काव्यको

उसका नाम उसने प्रोटागोरस रक्खाहै । इस संदर्भमें प्रोडिकस नामक एक पात्रके मुखसे उसने एक वक्तृता दिलाई है जिसमें आदि से लेकर अन्ततक केवल "भेद" वर्णन है । मुख्य विषयकी ओर दृक्‌पात तक नही किया गया । जितने विचारणीय विषय हैं उन सबमें एतादृश मनुष्य प्रतिकूल पक्ष अवलम्बन करते हैं। तदनन्तर वे भावी विघ्नोंका विवेचन करके अनेक शंका उठाते हैं और तद्द्वारा अपनी बुद्धिमानी व्यक्त करते हैं। इसी प्रकारका व्यवहार करना वे अपने

हीन पाया, अतः अपने ग्रन्थको अपनेही हाथसे इसने जलाडाला । २० वर्षके वयमें इसने एक नाटक भी लिखा था परन्तु उसके खेले जानेके पहिलेही इसने साक्रेटिसकी वक्तृता और कीर्ति सुनी और सुनकर ऐसा मुग्ध होगया कि उसका शिष्य बनकर तत्त्वज्ञान सीखनेलगा । ८ वर्षतक इसने साक्रेटिससे शिक्षाग्रहणकी अनन्तर ईजिप्त और इटली इत्यादि देश भ्रमण करके अपनी विद्याकी और भी अधिक इसने वृद्धिकी। इसने एथन्समें एक पाठशाला स्थापन करके सहस्रशः नवयुवकोंको विद्यादान दिया । इसको ज्यामिति और गणित शास्त्रका बड़ा व्यसन था । इसने अनेक ग्रन्थ लिखे है । आत्माको यह अमर मानता था और पुनर्जन्ममेंभी विश्वास करता था । साक्रेटिसकातो शिष्यहीथा फिर भला क्यों न यह ऐसा करै? गुरुकेभीतो सिद्धान्त ऐसेही थे ।

१ प्रोटागोरस नामका एक तत्त्ववेत्ता ग्रीसमें हुवा है।वह ईश्वरका अस्तित्वही नहीं मानताथा । एक पुस्तक उसने इसी विषयपर लिखीथी जो सर्व साधारणके सामने एथन्स में जलादीगई । प्रोटागोरस अपनी नास्तिकताके कारण देशसे निकाल दियागया था । भूमध्य सागरके अनेक द्वीपोंमें घूमता फिरता सिसलीमें ४०० वर्ष ईसाके पहिले वह मृत्युको प्राप्त हुआ । अनुमान होता है प्लेटोका निबन्ध इसी प्रोटागोरसके सम्बन्धमें है ।

२ प्रोडिकस लगभग ३९६ वर्ष ईसाके पहिले नास्तिक मतावलम्बी एक साहित्यज्ञ होगया है । एथन्समें तथा ग्रीसके और बड़े बड़े नगरोंमें यह व्याख्यान देता फिरता था । इसने कई एक ग्रन्थ लिखे हैं। इसके सिद्धांतोंसे अप्रसन्न होकर एथन्सवालोंने इसको यह अपराध लगाकर मरवाडाला कि यह अपक्व बुद्धि नवयुवकोंके चित्तको अपने व्याख्यानोंसे कलुषित करताहै ।

लिए हितावह समझते हैं, क्यों कि जिस बातका विचार करना है वह यदि विघ्नभावना और शंकोत्थान करनेसे परित्यक्त होगई तो उसी क्षण उसका अन्त होगया। परन्तु यदि मान्य समझीगई तो मानो आगे के लिए और काम बढ़ा। ऐसी दाम्भिक बुद्धिमत्तासे काम का सत्यानाश होता है; इसमें कोई सन्देह नहीं। सत्य तो यह है कि ऐसे ऐसे दाम्भिक पुरुषोंको अपनी न्यूनताको गोपन करके अपनी बुद्धिमानी दिखानेके लिए जितना प्रयत्न करना पड़ता है उतना एक आध दिवालिए महाजन अथवा नष्टद्रव्य धनीको भी अपना दास्य छिपाने के लिए नहीं करना पड़ता।

दाम्भिक बुद्धिमत्ताको व्यक्त करनेवाले लोग कदाचित् लोकमें मान सम्भ्रम भी प्राप्त करते होंगे परन्तु किसी भी विचारशील पुरुषको उनकी बाहरी बात चीतमें लुब्ध होकर उन्हें कोई काम न देना चाहिए। कामकाजके लिए ऐसे पाखंड पूरित मनुष्योंकी अपेक्षा भोले भाले सीधे मनुष्य अच्छे होते हैं।

मैत्री।

पापान्निवारयति, योजयते हिताय,
गुह्यञ्च गूहति, गुणान्प्रकटीकरोति।
आपद्गतं नच जहाति, ददाति काले,
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः॥

भर्तृहरि।

"जिस मनुष्यको एकान्तवासमे आनन्द आता है उसे या तो

१ जो सच्चा मित्र है, वह अपने मित्रको, अनुचित कार्य करनेसे रोकता है; जिसमें उसका हित हो, उस कार्यकी ओर उसे वह प्रवृत्त करता है; जो बातें किसीसे न कहनी चाहिए उन्हें वह छिपाता है; जो बातें उसके सद्गुणोंकी परिचायक हैं, उनको, वह, सब ओर प्रकट करता है. आपत्ति आनेपर वह अपने मित्रको कभी नहीं छोडता; और समयपर वह उनकी रुपये पैसेसेभी सहायता करता है—सत्पुरुषोंने सच्चे मित्रके यही लक्षण कहे हैं॥

अरण्यवासी पशु कहना चाहिए या प्रत्यक्ष देवता कहना चाहिए"। यह एक ऐसी उक्ति है कि इसमें सत्यता और असत्यता दोनोंका समान मिश्रण है। इससे अधिक सत्य अथवा असत्य व्यञ्जक उक्ति दोही चार शब्दोंमें, और किसी दूसरे प्रकारपर यदि कहनेवाला कहता; तो उसे विशेष कठिनाई पड़ती। जनसमुदायके विषयमें किसी मनुष्यके मनमें स्वाभाविक तिरस्कार और अनादर होना पशुत्वका लक्षण है। यह बात बहुत सत्य है। परन्तु इसप्रकार अरण्यवासको सुखप्रद माननेवालोंमें अणुमात्र भी देवांशका होना स्थिर करना; नितान्त असत्य है। हां जो मनुष्य सुखानुभवके लिए एकान्तवास नहीं करते किन्तु जन्म मरणादि दुःखोंसे छूटनेके लिए परमार्थ साधनके हेतु एकान्तवासका आश्रय लेते हैं वे अवश्यमेव प्रशंसनीय हैं। उनको देव अथवा देवांश मानना अनुचित नहीं। पुरातन समयमें क्रिश्चियन धर्म्माधिकारी और साधुपुरुष सच्चे अरण्यवासी होगए हैं। मूर्तिपूजकोंमें भी इस प्रकारके पुरुष पाए जाते हैं। यथाः—कांडियानिवासी यॅपीमिनीडस, रोमनिवासी न्यूमो, सिसलीनिवासी यम्पीडोक्लिस; राइना निवासी अपोलो

---

१ यपीमिनीडस क्रीटद्वीप मे उत्पन्न हुआ था और वहीं इसने मृत्यु पाई। सुनते हैं यह १५७ वर्षका होकर मरा था। इसने अनेक बार अनेक चमत्कार दिखलाए हैं। एक गुहामें एकबार यह ५० वर्षतक सोता रहा। कहते हैं यह अपने आत्माको शरीरसे यथेच्छ बाहर करदेता था और फिर बुलालेताथा।

२ न्यूमा रोमका दूसरा राजाथा। यह अत्यन्त धर्म्मनिष्ठथा। किम्वदन्ती है कि यह राजा इजीरिया नामक देवताके प्रत्यक्ष दर्शन करके, उससे उपदेश ग्रहण करता था। ४३ वर्ष राज्य करके, ६७२ वर्ष ईसवी सन्‌के पहिले, इसने इस लोकका परित्याग किया।

३ सिसलीमें, ईसवी सन्‌के ४४४ वर्ष पहले यम्पीडोक्लिसनामका एक प्रख्यात तत्त्ववेत्ता और कवि होगया है। कहते हैं इसने अनेक अद्भुत अद्भुत चमत्कार दिखलाए हैं। एक बार एकमृतस्त्रीको इसने सजीव कर दिया। इसका ठीक ठीक पता नहीं लगता कि यह कब और किसप्रकार मरा।

नियस; परन्तु औरोंको दिखलानेके लिए इन लोगोंने एकान्तवास स्वीकार कियाथा; किसी और सद्धेतु से नहीं ।

परन्तु एकान्तवास कहते किसे हैं, और उसकी सीमा कहांतक है--इसका बहुत कम ज्ञान लोगोंको होता है । मनुष्योंके समुदाय को मित्रोंका समुदाय नहीं कह सकते; और परस्पर प्रीति न होनेसे मनुष्योंके मुखको मुख नहीं कह सकते; चित्र भलेही कहसकतेहैं। इसीप्रकार जिनमें परस्पर स्नेह नहीं है उनका वार्त्तालाप वार्त्तालाप नहीं, किन्तु एक प्रकारका ताली बजाना है। लैटिनमें कहावत प्रसिद्ध है कि "बड़ा नगर बड़े एकान्त वास के बराबर है" यह कहावत, हमारे उपरोक्त कथन से, कुछ २ मिलती है ।कारण यह है, कि एक विस्तृत नगरमें मित्रजन--एक यहां एक वहां-इस प्रकार, दूर दूर अन्तर पर रहा करते हैं । अतः छोटे छोटे नगरोंमें, वारंवार मेल मिलाप होते रहनेसे जितना स्नेह होता है, उतना बड़े बड़े नगरोंमें बहुधा नहीं होता ! परन्तु, हम, उपरोक्त लैटिन भाषाकी कहावत से भी आगे जाते हैं । हमारा तो मत-दृढमत यह है कि सच्चे मित्रका न होना पूर्णतया दुःखदाई एकान्त वास है । विना मित्रके सारा संसार केवल अरण्यमय है । जो मनुष्य, अपने स्वभावके कारण अथवा अपने मनोविकारके कारण, मैत्री करनेके योग्य नहीं; उसकी एतादृशी अयोग्यता उसके पशुत्वकी सूचक है; मनुष्यत्व की सूचक नहीं ।

मैत्री का मुख्य फल यह है कि उसके योगसे नाना प्रकारके मनोविकारोंसे भरे हुए हृदयको रिक्त करनेका अवसर मिलता है । इस प्रकार विकाररूपी उफानोंको बाहर निकाल देनेसे हृदय हलका

---

१ अपोलोनियस ईसवी सन्के प्रथम शतकमें हुआ है । यह बडा विद्वान बडा भ्रमणशील और बडा तपस्वीथा । इसने भी अनेक आश्चर्यजनक चमत्कार दिखलाए हैं ।

हो जाताहै। जो रोग शरीरसे बाहर नही निकाले जासकते वे मनुष्य को अतिशय पीडित करते हैं। यह सभी जानते हैं। मानसिकरोगोंकी भी यही दशा है। यकृतको यथास्थित करनेके लिए तुम सार्सापरिला लोगे, प्लीहाको अच्छा करनेके लिये तुम कांतीसार लोगे; फेफड़ाके रोगी होजानेसे तुम गन्धकके फूल लोगे; मस्तकमें विकार उत्पन्न होनेसे तुम का स्टोरियम नामक ओषधिलोगे;—परन्तु हृदयको रिक्त करनेके लिए सच्चे, मित्रके अतिरिक्त अन्य धनही नहीं। जिसप्रकार धर्मगुरूके सन्मुख पापक्षय होनेके लिए अपने सारे पापकृत्य स्वीकार किए जाते हैं उसी प्रकार दुःख, सुखभय, आशा, संशय, परामर्श,--जो कुछ हृत्पटल पर खचित होकर क्लेशकर हो रहाहो--उसके विषयमें, अपने मित्रसे वार्तालाप किए विना चित्त कभी स्वस्थ नहीं होता।

यह जानकर आश्चर्य होता है कि मित्रताके जिस फलका वर्णन हमने किया उसको राजा महाराजा लोग कितना मूल्यवान् समझते हैं। मित्रताके फलको वे लोग इतना महत्व देते हैं कि उसकी प्राप्तिके लिए वे अपने अधिकार को भूलकर बहुधा अपने प्राणभी धोखेमें डालते हैं। इसका यह कारण है कि राजा और उसकी प्रजा तथा उसके अनुचर वर्गमें स्थिति भिन्नत्व के कारण जो अन्तर होता है, उस अन्तर को विनष्ट करके जबतक वे दो मनुष्योंको अपना सहचर अथवा अपनी बराबरीका नहीं बनालेते तबतक उनको मित्रताके फलका पूरा पूरा उपभोग नहीं मिलता। इस प्रकार उच्च अधिकार देनेसे राजाओंको बहुधा असुविधाभी होतीहै। आधुनिक भाषामें ऐसे लोगोंको 'राजप्रिय' अथवा 'गुप्तमित्र' कहते हैं। यह बात इस नामहीसे सूचित होती है कि एतादृश लोगोंपर राजाकी कृपा है। परन्तु ऐसे मनुष्योंका जो नाम रोमन लोगोंमे प्रचलित है, उससे उनकी यथार्थ उपयोगिता और उच्च पद प्राप्तिका ठीक ठीक कारण ध्यानमें आजाता है। रोमन लोग ऐसे मित्रोंको "चिन्ताके विभाजक" कहते हैं यह सत्य है. वे अवश्यमेव मित्रकी चिन्ताको विभक्त करके

कम कर देते हैं । यही कारण है, कि राजामें और उनमें अतिशय स्नेह होताहै । यह न समझना चाहिए, कि जो राजा विषयी और राजकाजमें अकुशल होते हैं, उन्हीको इस प्रकारके मित्रोंकी आवश्यकता पड़ती है । नहीं; आजपर्यन्त अनेक दूरदर्शी और विशालबुद्धि राजाओंने भी, अपने नौकरोंमेंसे, किसी न किसीसे मैत्री सम्पादनकी है; और ऐसा करके उनको उहोंने मित्र कहकर स्वयं पुकारा है, और दूसरोंसेभी ऐसाही सम्बोधन कराया है ।

जिस समय रोमनगरका अधिपति सीला था, उस समय उसने पाम्पीनामक एक मनुष्यको (जो पीछेसे "बडे पाम्पीके" नामसे प्रसिद्ध हुआ) इतने ऊंचे पदपर चढ़ा दियाथा कि, वह अपनेको सीलासेभी अधिक प्रतिष्ठित होनेका गर्व हांकने लगा । एकबार रोमके प्रधान अधिकारी कानसलका पद खाली हुआ । उस पदको अपने एक मित्रको दिलवाने के लिए सीलाकी इच्छाके विरुद्ध पाम्पी प्रयत्न करने लगा और अन्तमें उसे दिलवाही तो दिया। सीला न होने पाया । यह सीलाको अच्छा नहीं लगा । उसने पाम्पीको भला बुरा कहा । परन्तु पाम्पीने अतिशय मर्मभेदक उत्तर देकर सीलाको चुप कर दिया । उसने कहा कि लोकमें अस्ताचलपर आरूढ होते हुए सूर्यकी अपेक्षा उदयाचलपर आरूढ होते हुए सूर्यकी पूजा बहुत मनुष्य करते हैं ।

डेसिमस ब्रूटसने जूलियस सीज़रको इतना वशीभूतकर लिया था कि सीज़रने अपने मृत्युपत्रमें लिखदिया था कि "मेरे भतीजे के अनन्तर मेरी सारी सम्पत्ति का स्वामी ब्रूटसहै" । इसी ब्रूटसने सीज़रको

---

१ सीज़रने, एक युद्धमे, डेसिमस ब्रूटसको प्राणदान देकर उसे अपना परम मित्र बनाया था । परंतु सीज़रके अन्यायको सहन न करके, ब्रूटसने उसे रोमके सीनेट नामक कौंसिलगृहमें मारडाला । ब्रूटसने, ईसवी सन् के ४२ वर्ष पहले सीज़रके मित्र अंटोनियस द्वारा निधन पाया ।

नष्टकर देनेकी शक्ति प्राप्त करली थी क्योंकि अशकुन और विशेषतः अपनी स्त्री काल पूरनियाके देखे हुए दुःस्वप्नके कारण, सीज़र सीनेट नामक सभा उठा देना चाहताथा; परन्तु ब्रूटसने धीरेसे उसका हाथ पकड़ कर उसे उसकी कुरसीसे उठाया, और कहा कि, जबतक तुम्हारी स्त्री एक अच्छा स्वप्न न देखै तबतक सीनेट सभा न उठादेनी चाहिए। सिसरोने, अपने एक ग्रन्थमें, अंटोनियसके एक पत्रका अवतरण ज्यों का त्यों दिया है। इस पत्रमें लिखा है कि सीज़र का ब्रूटसके ऊपर इतना प्रेम था मानो ब्रूटसने उसपर जादू कीथी।

आग्रिपाका जन्म यद्यपि नीचकुलमें हुआ था, तथापि रोमके राजा आगस्टस सीज़रने उसे इतने ऊंचे पद पर चढ़ादियाथा कि जब राजाने, अपनी कन्या जूलियाके विषयमे, मेसेनासे परामर्श किया तब मेसेनाने निर्भय होकर यह स्पष्ट कह दिया कि "तुमने आग्रिपाकी योग्यता इतनी बढ़ादी है कि अब यातो जूलियाके साथ उसका विवाह करदो, या उसका प्राण लेलो; इन दोके अतिरिक्त तीसरा मार्गही नहीं है"।

---

१ आग्रिपा रोमका निवासी था। इसने कई युद्धोंमें बड़ी वीरता दिखाई है। रोमके राज्यको इसने विशेष लाभ पहुँचाया। आगस्टस सीज़रका यह परम मित्र था। ५१ वर्षके वयमें ईसवी सन्के १२ वर्ष पहले इसकी मृत्यु हुई। इसकी समाधि उसी स्थानमें बनाई गई जिसे आगस्टस सीज़रने अपने लिये निश्चित किया था।

२ मेसेना रोम का एक प्रसिद्ध सरदार था। इसका सम्बन्ध यहूदियोंके राज वंश से था। यह महा विद्वान था। आगस्टस सीज़र का मित्र होनेके कारण, यह, उसको सदैव सदुपदेश दिया करता था। इसने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं; परन्तु इस समय उनका पता नहीं लगता। ईसवी सन्के ८ वर्ष पहले इसकी मृत्यु हुई।

टिबेरियस सीज़रने सेजानस को इतने ऊंचे पदपर चढ़ा दियाथा कि, मनुष्य उन दोनोंको मित्रयुग्म कहने लगे थे । टिबेरियसने एक पत्रमें, सेजानस को लिखा है, कि "हमारी दोनों की अतिशय मैत्री होने के कारण हम ये बातें तुमसे गुप्त नहीं रखते" । इससे सिद्धहै-कि टिबेरियस गुप्त से गुप्त भी बातें सेजानससे कहदेताथा । रोम की सेनेट सभाने, इन दोनों की दृढ मैत्री के स्मरणार्थ, देवताओंके देवालयके समान मैत्रीका एक मनोहर मन्दिर निर्म्माण कर दियाहै । ऐसीही, किंबहुना इससेभी अधिक सेप्टीमिस सेविरस और प्लाटियानस की मित्रता थी । सेप्टीमिस सेविरसने, अपने बड़े लड़केका प्लाटियानस की लड़कीके साथ बलवत् विवाह कर दियाथा । अपने लड़के और

---

१ टिबेरियस सीज़र, रोम में, एक महाविषयी राजा होगया है । अपने मित्र सेजानसको राज्यकाभार अर्पण करके यह वांछित सुख भोगमें निमग्न होगया था । सन् ३७ ई० में इसका अन्त हुआ ।

२ सेजानस, टिबेरियसका परममित्र था । राज्यशासन सूत्र, इसके हाथ में आतेही, इसने उलटी टिबेरियसहीकी अवहेलना आरम्भ की । वही इसके मृत्यु का कारण हुआ ।

३ सेप्टीमिस सेविरस रोमका राजा था । इसका शासन काल सन् २११ ई० तक रहा ।

४ प्लाटियानस की जन्मभूमि आफ्रिका थी । इसका जन्म एक नीचकुलमें हुआ था । रोमका राज्य पानेके पहलेही सेप्टीमिस सेविरससे इसकी मित्रता होगईथी । सेप्टीमिस सेविरसने इसका महत्व बहुत ही बढ़ा दिया था । सेप्टीमिस सेविरसके लड़के की इच्छा के विरुद्ध इसने अपनी लड़की का विवाह उससे करा दिया था । लड़की को जब कष्ट मिलने लगा, तब प्लाटियानस ने राजा और राजपुत्र के प्रतिकूल कुछ जाल फैलाया । इस बातको सुनकर सेप्टीमिस सेविरसने इसे मरवा डाला ।

प्लाटियानस के मध्य अनुचित व्यवहार होते देख, सेप्टीमिस सेविरस प्लाटियानसही का पक्ष लेताथा। सेप्टीमिस सेविरसने रोमकी सेनेट सभा को यहांतक लिखाथा, कि "प्लाटियानसको मैं इतना प्यार करताहूं कि मेरी यह इच्छा है, कि उसके पहलेही मेरा मरण आवे"।

ऊपर जिनका वर्णन कियागया है वे राजा यदि ट्राजेन अथवा मारकस आरेलियस के समान होते, तो यह कह सकतेथे, कि अतिशय सौशील्य और सुस्वभाव के कारण, इस प्रकार की मैत्री होगई होगी। परन्तु वे इतने बुद्धिमान, इतने दृढ निश्चय वाले, और इतने स्वामिमानी थे, कि उस प्रकार का तर्क होही नहीं सकता। अतः यह बात स्पष्ट है, कि यद्यपि उनको सुखकी सारी सामग्री प्रस्तुत थी, तथापि विना मित्र के वह सब उनको आधी ही जान पड़ती थी; एक मित्र के विना उससे उन्हें पूरा पूरा आनन्द नहीं मिलता था। सबसे अधिक ध्यानमें रखने योग्य बात तो यह है कि इन राजाओं के स्त्री, पुत्र, भाई, भतीजे सब होकर भी उनसे इनको मैत्री का सुख नहीं मिलताथा।

फ्रांस के इतिहासकार कोमीनियस ने एक बात लिख रक्खी है; वह स्मरण रखने योग्य है। उसका कथन है, कि उसका स्वामी-ड्यूक चार्लस दि हार्डी—अपनी गुप्त बातें किसीसेभी न कहता था; तिसपर ऐसे रहस्य जो उसे अतिशय त्रासदायक थे उनका मर्म्म तो वह कदापि मुखसे वाहरही नहीं होने देता था। इस संकोच वृत्ति का परिणाम यह हुआ, कि उत्तर वयमें, उसकी विचार शक्ति दुर्बल होगई; दुर्वलही नहीं किन्तु कुछ कुछ नष्ट भी होगई। कोमी

१—२ट्राजन और मारकस आरेलियस ये दोनों रोम में परम दयालु, परमोदार और परम यशस्वी राजा होगयेहैं। मारकस आरेलियस को तो रोमन लोगों ने देवता माना है।

नियस यदि चाहता तो वह अपने दूसरे स्वामी फ्रांसके राजा ग्यारहवें लिवी—के विषय में भी यही बात कहता, क्योंकि उसको भी उसकी संकोच वृत्ति ने, बहुत सताया था । "हृदय को मत भक्षण करो "। (अर्थात त्रासदायक बातों को मनका मनही में न रहने दो) इस प्रकारका एक दृष्टान्त पिथागोरसने[१] दिया है । यह यद्यपि स्पष्ट नहीं है, तथापि सत्य है; क्योंकि हृदय को हलका करने के लिए जिनके कोई मित्र नहीं हैं, उनको यदि कोई बुरा नाम देना हो तो "हृदय भक्षक" ही कहना युक्त है । परन्तु एक बात बड़ीही विलक्षण है उसको कहकर मित्रताके प्रथम फलके विषय का लेख हम समाप्त करेंगे । वह यह है कि मित्रके पास हृदयको हलका करनेसे परस्पर विरुद्ध दो कार्य होते हैं । अर्थात् मित्रसे सुख की बात कहनेसे वह सुख दूना होजाता है; और दुःख की बात कहनेसे वह दुःख आधा रहजाता है । मित्रको सुख संवाद सुनानेसे जिसका सुख वृद्धि-गत नहीं होता, किम्वा दुःख की वार्त्ता कहनेसे जिसका दुःख न्यून नहीं होता ऐसा मनुष्यही नहीं है । योरपके कीमिया करनेवालोका कथनहै कि पारस पत्थरमें परस्पर विरुद्ध गुण हैं,परन्तु उनसे शरीरको अपाय नहीं होता; उलटा लाभ होता है । इसी प्रकार मनकी बात मित्रसे कहनेसेभी मन कलुषित नही होता; प्रफुल्ल होता है । कीमिया वालों की बात जाने दीजिये; व्यवहार मेंभी इस बात के स्पष्ट उदाहरण देख पड़ते हैं । संयोग से पदार्थों का स्वाभाविक गुण बढ़ता है और दृढ होता है, परन्तु बलपूर्वक उनका वियोग करने से वे मन्द तथा अशक्त होजाते हैं । मन की भी यही दशा है ॥

---

१ ग्रीसमें पिथागोरस नामक एक अद्वितीय तत्वज्ञ होगया है । ईसवी सन् के लगभग ५०० वर्ष पहले यह विद्यमान् था। २२ वर्ष तक मिश्र देशमें रहकर नाना प्रकारकी विद्यायें इसने सीखीथी । परमाणु से सृष्टि उत्पन्न हुई है और उसका कर्त्ताभी कोई अवश्य है—यह इसका सिद्धान्त था । सूर्यबीचमें है और समग्र ग्रह उसके चारों ओर घूमते हैं—यह उपपत्ति इसीकी कीहुई है । यह मांसाहारी नथा। योग में भी यह कुशलथा; हिंस्रजीवोंको यह अपने वशमें कर लेताथा और एकही समयमें कई स्थानों में उपस्थित होजाता था ।

मनो विकार अनावर होने पर मैत्री के योगसे मन स्वस्थ होता है। मैत्रीका यह प्रथम फल है। मैत्रीका दूसरा फल यह है, कि उसके योगसे बुद्धि को निरोगता आती है; बुद्धि के विकारोंको दूर करने के लिए वह अव्यर्थ महौषधि है। जिस प्रकार मनोविकारों के उच्छृ-खल होने से, मैत्रीका साहाय्य पाकर मन शान्त होता है, वैसे ही नानाप्रकारके भले बुरे विचारों में निमग्न होनेसे, बुद्धि के ऊपर छा-याहुवा अन्धकार भी मैत्री के योग से जाता रहता है। यह न सम-झना चाहिये, कि मित्र के द्वारा उचित उपदेश मिलनेसे ऐसाहोता है; नहीं उपदेश मिलनेके पहलेही बुद्धिका अज्ञानपटल नाश होजाताहै। जिसका मन नाना प्रकार के विचारोंसे भर जाता है, वह जब दूसरे मनुष्य से भाषण करने लगता है और अपने मनकी बातें कहने लगता है, तब उसकी विकल हुई बुद्धि और विचार शक्ति शुद्ध होने लगती हैं। उस समय वह अपने विचारों को अधिक सरलतासे व्यक्त करता है; सुव्यवस्थित रीतिपर, एक के अनन्तर एकको कहता जाता है; और शब्दों में परिणत होने पर वे अच्छे लगते हैं अथवा नहीं यह भी देखता जाता है। सत्य तो यह है, कि एक दिन पर्यन्त, अपनेही मनमे मनन करनेसे, मनुष्यको जितनी बुद्धिमत्ता आती है, उतनी दूसरेके साथ एक घंटेही भर संभाषण करनसे आजाती है। एतादृश संभाषणसे, पहले की अपेक्षा, मनुष्य अधिक ज्ञान सम्पन्न होजाताहै।

ईरानके राजासे थेमिस्टाक्लिसने बहुत ठीक कहा है, कि भाषण

---

१ थेमिस्टाक्लिस एथन्स में एक बड़ा बुद्धिमान् शूरवीर और साहसी सेना-नायक होगया है। अपरिमित सेना लेकर ग्रीस पर चढ़ाई करने वाले जरक सीज़ नामक फ़ारसके राजाको इसीने परास्त किया। किसी कारण से एथन्स वाले इससे अप्रसन्न होगए; अतः यह ज़रकसीज़के पुत्रके पास फ़ारस चला गया। थेमिस्टाक्लिस के लोकोत्तर गुणोंसे मुग्ध होकर फारसके राजा—ज़रकसीज़के पुत्र—ने, पुरानी शत्रुता भूलकर इसको बड़े आदरसे रक्खा—थेमिस्टाक्लिस ४४९ वर्ष ईसवी सन् के पहले मृत्युको प्राप्त हुआ।

फैलाए हुए क़ालीन के समान है। फैलानेहीसे कालीनके ऊपर निकाले हुए चित्र विचित्र बेल बूटे दिखाई देतेहैं। इसी प्रकार, जब भाषणद्वारा विचार व्यक्त कियेजाते हैं तभी वे शोभायमान होते हैं, लपेटकर मनहीमें रख छोड़नेसे नहीं अच्छे लगते। यह समझना ठीक नहीं कि जो मित्र सदुपदेश और सत्परामर्श देनेमें समर्थ होते हैं, उन्हींके साथ वार्त्तालाप करनेसे मित्रताके बुद्धि विकाश रूपी दूसरे फलकी प्राप्ति होती है। ऐसे ऐसे मित्र मिलैं तो और भी अच्छा है परंतु यदि नभी मिलैं तौ औरोंके साथ भी बातचीत करनेसे, मनुष्य बहुत कुछ ज्ञान सम्पादन कर सकता है, और अपने विचारोंको व्यक्त करनेकी युक्ति सीख सकता है। सानपर रखनेसे जैसे चाकू, कैंची इत्यादि पदार्थ चमकदार और धारयुक्त होजाते हैं परन्तु सान जैसीकी तैसीही रहजाती है, वैसेही मनुष्य चाहै कैसाही अज्ञान क्यों नहो, उसके साथ बातचीत करनेसे, बोलने वालेकी बुद्धि अवश्यमेव प्रखर होजाती है। हमारा तो यह मत है, कि अपने विचारोंको मनहीमें जीर्ण करके व्याकुल होनेकी अपेक्षा उनको किसी चित्र के सामने अथवा किसी मूर्त्तिके सामने जाकर कह सुनाना अच्छा है।

मित्रताके इस दूसरे फल के माहात्म्यको पूरा करनेके लिए एक बात और कहनी है। वह एक ऐसी बात है जो विशेष स्वष्ट है और जिसे साधारणतया छोटे बड़े सभी जानते हैं। वह यह है कि मित्रसे सत्परामर्श मिलता है। हिरांक्लिटसने अपने एक कूटसुभाषित में ठीक कहाहै, कि "प्रकाशो में शुद्ध प्रकाश सबसे उत्तम है" । यह सर्वथैव सत्य है, कि दूसरे के परामर्शसे बुद्धि विकास रूपी जो

---

१ ग्रीसमें हिराक्लिटस नामक एक महान् तपस्वी और तत्त्ववेत्ता होगयाहै। इसको एकान्तवास अति प्रिय था। फारसके राजा डारियस के बुलाने परभी यह अपनी पहाड़ी गुफासे बाहर नही निकला इसकी मृत्यु जलोदर रोगसे हुई। ईसाके लगभग ५०० वर्ष पहले यह विद्यमान था।

प्रकाश मिलता है वह अपने निज के ज्ञान और सदसद्विचार रूपी प्रकाश से अधिक शुद्ध और विमल होताहै। इसका यह कारण है कि अपनी बुद्धि के प्रकाश में अपने मनोविकार और स्वाभाविक-दोष मिले रहते हैं। यह बात दूसरेसे प्राप्त हुए परामर्श रूपी प्रकाश में नही होती। अतएव मित्रसे जो परामर्श मिलता है, उसमें और स्वतः के परामर्श में उतनाहीं अन्तर है जितना मित्र और मिष्टभाषी किसी चाटुकार के परामर्श में अन्तर होता है। स्मरण रखना चाहिये कि मनुष्य के लिये अपनी अपेक्षा अधिक और कोई चाटुकार नहीं, और अपने चाटुकार रूपी रोग को दूर करनेके लिये, स्पष्टवक्ता मित्र के अतिरिक्त दूसरी और कोई औषधि नहीं।

परामर्श (सलाह—मसलहत) दो प्रकार का है। एक चलन वलन सम्बन्धी; दूसरा कर्तव्यकर्म्म सम्बन्धी। चलन वलन सम्बन्धी परामर्श का पहले विचार करेंगे।

मनको कुमार्गमें जानेसे रक्षित रखनेके लिये सच्चे मित्र के वाग्दण्ड के समान और औषध नही। अपने आपही, अपने कार्यों की आलोचना करके, मनको ऊंचा नीचा सुझाना भी वैसीहीं औषधि है, परन्तु उसका प्रयोग हृदय को बहुधा विशेष पीडा और आघात पहुँचाता है। नीति विषयक ग्रन्थों का अवलोकन करने से भी मनुष्य की मानसिकवृत्ति नहीं बिगडती; परन्तु इस प्रकार के ग्रन्थो के पढ़ने मे जी नहीं लगता। अपने सदृश दोषों का परिणाम यदि दूसरों में देखना चाहैं, तो वह भी कभी अयोग्य समझा जाता है। अतः मित्रकृत वाग्दंड के समान, इस विषय में, अन्य उपाय नहीं; उसका गुण भी उत्तम है और वह स्वयं ग्रहण करने में भी उत्तम है—क्लेशकर नहीं। अनेक मनुष्यों को—विशेष करके बड़े बड़े लेगों को—महान् प्रमाद और उपहासास्पद बातों को करते देख आश्चर्य होता है। ऐसे ऐसे प्रमाद और असंगत बातोंके कारण

उनकी कीर्त्ति और सम्पत्ति दोनों में बट्टा लगता है। परंतु उनकी भूल उनके दिखलाने वाले यदि उनके मित्र होते तो ऐसा कदापि न होता। सेंटजेम्सका कथन है कि ऐसे मनुष्योंकी गणना उनमें करनी चाहिए, जो अपना मुख दर्पणमें देखकर तत्कालही अपना स्वरूप और आकृति भूल जाते हैं।

कर्तव्यकर्म्म सम्बन्धी परामर्शके विषय मे अब विचार करैंगे। बहुतेरे उद्भट विद्वानों का यह मत है, कि एक नेत्र की अपेक्षा दो नेत्रोंसे अधिक नहीं देख पड़ता; दूर खड़े होकर देखनेवाले की अपेक्षा खेलनेवालोंको खेल का मर्म्म अधिक समझ पड़ता है, क्रोध से अभि-भूत हुआ मनुष्य शान्त मनुष्य के बराबरही विचारशील होता है; बन्दूक को किसी वस्तुपर रखकर उसके सहारे जैसा लक्ष्यभेद करते बनता है वैसाही हाथ मे रखकर भी करते बनता है; परन्तु हमारी समझ मे ये तथा इस प्रकारकी और बातैं प्रलाप मात्र हैं। जिनमे नख से शिखा पर्य्यन्त अहङ्कार भराहुआ है वही बहुधा, ऐसे ऐसे उद्गार निकालते हैं। चाहै जो कहिये और चाहै जो कीजिए, एक बात यह निर्विवाद है, कि सत्परामर्श लेनेसे काम काज निर्विघ्न और यथेच्छ होता चलाजाता है। यदि किसीकी इच्छाहो, कि वह एक काम में एक मनुष्य का और दूसरे में दूसरे का परामर्श लेवे, तो वह वैसा भी करसकता है। वैसा करना भी अच्छा है-निदान किसीसे कुछभी न पूंछने सेतो अच्छाही है। परन्तु इस प्रकारके परामर्शमें दो डर हैं। एक तो सत्परामर्श मिलनाही कठिन होगा, क्योंकि सच्चे मित्रके अतिरिक्त दूसरेसे क्वचितही निष्कपट परामर्श मिलताहै; फिर एक बात और यहहै कि परामर्श देनेवाले का कोई न कोई उद्देश रहता ही है; अतः उस उद्देश के अनुसार, स्वार्थका कुछ अंश परामर्शमें अवश्यमेव मिश्रित होजाता है। दूसराडर यह है, कि परामर्श देनेवालेका हेतु यदि अच्छा भी

हुआ तो भी उसके कथनका अनुसरण करनेसे धोखा और अपाय होना संभव है। ऐसे परामर्शमें गुण और दोष दोनों मिले रहते हैं। जो वैद्य रोगी की प्रकृतिसे परिचित नहीं है, वह यद्यपि चिकित्सामें प्रवीण भी हुआ, और यद्यपि जिस रोगके लिये वह बुलाया गया है उसको उसने अच्छा भी करदिया, तोभी सम्भव है, कि, औषधोपचार करनेसे शरीरमें एक दूसराही रोग वह उत्पन्न करदेवै और तद्द्वारा रोगीकी मृत्युका कारण होवै। जो पूर्ण-तया परिचित नहीं हैं उनके परामर्श में भी ऐसाही भय रहता है। परन्तु अपने मित्रको अपना सारा वृत्त इत्थंभूत विदित रहता है; इस लिए एक काम करनेसे दूसरा काम न विगड़ने देनेके विषयमें वह सावधान रहता है और कभी अनुचित परामर्श नहीं देता। अतः फुटकर, ऐसे वैसे मनुष्योंसे सलाह न लेनी चाहिए; लेनेसे कामकी सुव्यवस्थातो होती नहीं, चित्त उलटा क्षुब्ध होजाताहै और परिणाम हितावह नहीं होता।

मैत्रीके दो उत्कृष्ट फलोंका उल्लेख होचुका। इन दोमेंसे एक, मनोविकारोंको उच्छृंखल होनेसे वचाना है और दूसरा, सदसद्विचार बुद्धिको सहायता पहुंचाना है। अब तीसरे फलका माहात्म्य सुनिए। यह फल अनारके समान है; अनार जिसमें अनेक दाने होतेहैं। इस कथनसे हमारा यह अभिप्राय है, कि सब कामोंमें और सब प्रसंगोंमें मित्रसे साहाय्य मिलता है और मित्रका उपयोग होता है। यदि यह देखना हो, कि कहां कहां, और किस किस समयमें, कौन कौन काम मित्रसे निकलते हैं, तो मनुष्यको चाहिए कि वह इसका विचार करै, कि ऐसी कितनी बातें हैं जो वह अकेले नहीं कर सकता। ऐसा करनेसे यह विदित हो जायगा कि पुरातन लोग मित्र की महिमा बहुत कम समझते थे। यही कारण है जो उन्होंने "मित्र अपनाहीं एक अन्य आत्मा है" इस प्रकार मित्र का लक्षण

कहा है; क्योंकि मित्र अपना आत्मा नहीं किन्तु आत्मासे भी अधिक है। मनुष्य का आयुष्य नियमित है। अपने इस हेतु सिद्ध होने के पहलेही बहुधा मनुष्य काल कवल हो जाताहै। "हमारे पीछे हमारी सन्तति की क्या दशा होगी। जो काम हमने आरम्भ किया है वह कैसे समाप्त होगा"। ऐसी ऐसी अनेक प्रकारकी चिन्ता मनुष्य के मनको पीडित किया करती हैं। परन्तु यदि मनुष्य के कोई सन्मित्र हुआ, तो उसको इस बात का विश्वास रहता है, कि उसके मरने के अनन्तर उसकी इच्छित बातों को उसका मित्र पूरा करैगा। अभिलषित बातों की पूर्त्तिके विषय में, मित्र के होनेसे, मनुष्य मानो दो आत्माओं में विभक्त होजाता है। मनुष्यके एकही देह है और वह एकही स्थान में स्थित रहता है; परन्तु मित्रहोनेसे यह मानना पड़ता है कि मनुष्य संसारके सारे काम करने में समर्थ होता है; क्योंकि जो काम वह स्वयमेव नहीं कर सकता वह वह अपने मित्रसे कराता है; और मित्र अपनाही आत्मा है। ऐसी कितनीही बातैं हैं, जो मनुष्य लज्जा और संकोचवश होकर स्वयं नहीं कह सकता, अथवा स्वयं नहीं कर सकता। अपने मुखसे अपनेहीं गुण मनुष्य मर्य्यादशीलतासेभी नहीं कह सकता, फिर प्रशंसापूर्वक कहने की बातही दूर रही। कभी कभी याचना और विनय करनेका भी साहस मनुष्यको नहीं होता। एक नहीं ऐसी अनेक बातैं हैं। अपने मुखसे ऐसी ऐसी बातैं कहना लज्जास्पद है; परन्तु यही बातैं मित्रके मुख से निकलने पर उलटी शोभा देती हैं। फिर मनुष्यके अनेक सम्बन्धी होतेहैं; उनका सम्बन्ध वह तोड़ नहीं सकता। लड़केसे पिताके समान बोलना पड़ता है; स्त्रीसे पतिके समान बोलना पड़ता है; शत्रुसे शत्रुके समान बोलना पड़ता है। जिससे जैसा सम्बन्ध होता है उसके साथ उसके सम्बन्धके अनुसार भाषण करना पड़ता

है; परन्तु मित्रके लिये किसी सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं होती। समयानुकूल जैसा चाहिए वैसाही वह बोल सकता है। कहांतक कहैं; ऐसी अनेक बातैं हैं। सभीका समावेश करनेसे पार पाना दुस्तर होगा। यहांपर हमने एक नियम मात्र कह दिया, कि किस प्रकार मनुष्य, मित्रकी सहायताके बिना अपने काम नहीं कर सकता। यदि मनुष्यके मित्र नहीं है, तो उसे चाहिए, कि इस संसाररूपी रंगभूमि से वह निकल जावे।

मत्सर।

> अहो सहन्ते वत नो परोदयं
> निसर्गतोऽन्तर्मलिना ह्यसाधवः[1]।
>
> स्फुट।

जितने मनोविकार हैं, सब में, प्रेम और मत्सर के समान मोहक और कोई मनोविकार नहीं। इनकी अभिलषित भावनाएँ बडी ही-प्रवल होती हैं। ये दोनों मनोविकार, अति शीघ्र, कल्पना और भावना के घोड़े दौड़ाने लगते हैं। नेत्रो में इनका आविर्भाव होते देरही नहीं लगती। जब कोई स्पृहणीय और मनोहर बात दृग्गोचर होती है तब ये दोनों विकार विशेष त्वरा के साथ प्रकट होते हैं। धर्म्म ग्रन्थों में मत्सर को वक्रदृष्टि के नाम से उल्लेख किया है। अनिष्ट ग्रहों का योग आने से, ज्योतिषी लोग भी कहते हैं। कि अमुक अमुक ग्रह की वक्रदृष्टि है। अभी तक लोगों की यह समझ है कि मत्सर उत्पन्न होनेसे दृष्टि लगजाती है। किसी किसी का यह भी मत है कि अभ्युदय और विजय प्राप्त होने से मात्सर्य्यदृष्टि विशेष हानि पहुँचाती है; क्यों कि, उस दशामें मत्सर को और भी

---

१ स्वभावही से जिनका अन्तःकरण मलिन होरहा है ऐसे असच्चरित्र लोग दूसरे का अभ्युदय नहीं सहन कर सकते।

अधिक प्रखरता आती है । जिसको देखकर मत्सर उत्पन्न होता है उस मनुष्य के गुण, ऐसे समय में, चारों ओर बाहर प्रकाशमान देख पड़ते हैं; इसी से उनपर मत्सर का प्रचंड आघात होता है । ऐसी ऐसी चमत्कारिक बातों का यथास्थान वर्णन करना अनुचित नहीं होता, तथापि इस विषयको अब हम यहीं छोंड, यह देखना चाहते हैं कि दूसरे का मत्सर करने की ओर किन मनुष्यों की विशेष प्रवृत्ति होती है, और कौन मनुष्य मत्सर किए जाने के अधिक पात्र होते हैं; तथा सार्वजनिक और व्यक्ति विशेष विषयक मत्सर में क्या अन्तर है ।

गुणहीन मनुष्य गुणवान् को देखकर असूया करता है । मनुष्य का यह स्वभावही है कि वह सदैव अपना भला और दूसरे का बुरा चाहता है । जिसमें अपना भला करनेकी शक्ति नहीं है, वह दूसरे का बुरा होते देख समाधान पाता है । और जो मनुष्य दूसरे के सद्गुणों को स्वयं उपार्जन करनेकी कोई आशा नहीं देखता, वह उसके गुणोंका अपलाप करके, अपनी और उसकी समता सिद्ध करने का यत्न करता है।

जो मनुष्य किसी न किसी काममें सदैव लगा रहता है और दूसरे के व्यवसायोंका अनुसन्धान किया करता है, वह बहुधा असूयारत होता है । कारण यह है, कि जो इतना घटाटोप करके औरों के कामकाजके विषय में ज्ञान सम्पादन करता है वह इस लिए नहीं सम्पादन करता कि उसका औरोंके काम काज से कुछ सम्बन्ध है अथवा उस ज्ञान से उसको कुछ विशेष लाभ है । नहीं, इस प्रकार दूसरों के विषय में पूंछ पांछ करके और उनकी भली बुरी स्थितिको देखकर मत्सरग्रस्त मनुष्यको नाटक देखने कासा आनन्द आता है ! जिसे " न उद्धव से लेना और न माधव को देना" है, उसे दूसरेका मत्सर करने के लिए विशेष कारण नहीं ढूंढे मिलता । मत्सर एक ऐसा चंचल मनोविकारहै कि इतस्ततः भ्रमण किए बिना उसे कलही

नहीं पड़ती; वह चुपचाप रही नहीं सकता। किसीने ठीक कहाहै कि "दूसरे की भली बुरी बातों का पता लगाने वाला अवश्यमेव दुःशिल होता है"।

जिनकी प्रधानता कुलक्रमागत चली आई है वे जब किसी नूतन व्यक्तिका अभ्युदय देखते हैं तब मत्सर करने लगते हैं। ऐसे अभ्युदयमें उपरोक्त दोनों प्रकारके मनुष्योके बीचका अन्तर नष्ट होजाता है। मत्सर उत्पन्न होनेका यही कारण है। कुलीन घराने वाले यह समझते हैं कि नए लोग अग्रेसर होते जाते हैं और वे पीछे पड़ते जाते हैं। यह केवल उनके दृष्टिदोष का फल है।

वृद्ध, विकलाङ्ग, षंढ और जारज लोग असूया तत्पर होते हैं। इसका यह कारण है, कि जो मनुष्य अपनी स्थितिमें संशोधन करके उसे अपनी दशाको नही पहुँचा सकता, वह दूसरे की स्थितिको हर प्रयत्नसे हानि पहुंचानेमें कोई बात उठा नहीं रखता। परन्तु इस प्रकारके व्यङ्ग यदि किसी शूरवीर और पराक्रमी पुरुष में हुए तो वह उनको एक प्रकारका भूषण मानकर दूसरोंका मत्सर नहीं करता। ऐसे ऐसे व्यङ्ग जिसके शरीरमें होतेहैं, वह यह समझता है, कि अद्भुत अद्भुत और चमत्कारिक बातों के करनेसे, लोकमें, जो प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, वह इन व्यंगोंके कारण उसकी भी होगी; क्योंकि लोग कहेंगे, "देखो इस लंगड़ेने अथवा इस षंढने कैसे कैसे पराक्रमके काम किए"। नारसिस आगेसिलास और तैमूरलंग ऐसेहीथे। नारसिस षंढ था, और शेष लंगड़े थे।

---

१ कांस्टेंटि नोपलमें जस्टिनियन नामक राजेश्वर के पास छठवें शतकमें नारसिस नामधारी एक षंढ था। यह बहुतही राज कार्य पटु था और ब्यली सारियस नामक सेनापति के अनन्तर उसके पदके योग्य समझा गया था।

२ आगे सिलास, ग्रीसके अन्तर्गत स्पार्टा प्रदेश का राजाथा। यह चतुर्थ शतक मे विद्यमान था। यह लंगड़ा था, परन्तु बड़ा पराक्रमी और शूरथा, युद्धमें इसने अनेक वार विजय पाई। यह ८४ वर्षका होकर मरा।

अनेक कष्ट और अनेक आपत्तियोंको सहन करनेपर जिनका अभ्युदय होता है वे मनुष्य भी औरों का मत्सर करने लगते हैं । दूसरे की सहज प्राप्त सम्पत्ति को वे नहीं देख सकते ! "हमको इतना परिश्रम उठाना पड़ा, परंतु ये लोग विना श्रमही के इतनी योग्यता को पहुँच गए" इस प्रकारकी भावना मनमें करके, वे दूसरोंको दुःखित देख अपने दुःखोंके भार को मानों हलका करनेका यत्न करते हैं ।

चंचलवृत्ति होने तथा अपने को बहुत कुछ समझने के कारण, जो मनुष्य, अनेक विषयों में हस्ताक्षेप करके, अपनाने पुण्य दिखलाना चाहते हैं वे मत्सरवान् होते हैं । कारण यह है, कि सभी बातों में प्रवीणता तो आती नहीं पल्लव ग्राहिता मात्र आजाती है । अतः ऐसे मनुष्योंमें औरोंकी अपेक्षा, किसी विषय में आधिक्यता तो नहीं उलटी न्यूनता पाई जाती है । इसीसे वे दूँसरों का मत्सर करते हैं । एड्रियन राजा का स्वभाव ऐसाही था । कवित्त्व, चित्रकला और शिल्पशास्त्रमें प्रावीण्य प्राप्त करनेकी उसको बलवती स्पृहा थी; इसीसे कवि चित्रकार और शिल्पियों की वह अत्यन्त असूया करता था ।

आप्तजन, सहाध्यायी और सह कर्म्मचारी लोग, अपने समान शीलवालों की पदोन्नति देखकर अधिक मत्सर करने लगते हैं । जो हमारे समकक्ष थे वे हमसे बढ़गए यह बात उनको खलती है, क्योंकि इससे उनकी अयोग्यता सिद्ध होती है । इसका उनको वारंवार स्मरण होता है, और सब लोगों को यह बात विदित भी हो जाती है । इस रहस्य के विदित होजाने और सब ओर तद्विषयक चर्चा होने से मत्सर दूना होजाता है ।

यहां तक उन लोगों का विचार कियागया जो साधारणतः असूयारत होते हैं । अब यह देखना है कि कौन किसकी न्यूनाधिक असूया करते हैं ।

अत्यन्त सद्गुणी मनुष्य का अभ्युदय होते देख लोग कम मत्सर करते हैं, क्यों कि वे अपने मन में यह समझते हैं कि यह व्यक्ति इस सन्मान का पात्र है। ऋणपरिशोध करने से कोई किसी का मत्सर नहीं करता; परन्तु उदारता पूर्वक किसी को कुछ देते देख मनुष्य मत्सर करने लगते हैं। जिन दो व्यक्तियों की परस्पर तलना नहीं हो सकती उनमें मत्सर भी कभी जागृत नहीं होता। अतः जहां कहीं मत्सर भाव दृग्गोचर होगा वहां सभ्यता अवश्य होगी। इसीसे राजा लोगों का मत्सर राजेही करते हैं, अन्य नहीं। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि योग्यताहीन पुरुषों का जब सहसा अभ्युदय होजाताहै, तब, वे, पहिले पहल, उत्कट असूया भाजन बनजाते हैं, परन्तु कुछ काल के अनन्तर, लोग, उनको मत्सर दृष्टि से देखना बन्द कर देते हैं। उनके विषयमें, उस समय, सब से अधिक असूया उत्पन्न होती है, जब लोग उनको चिरकाल पर्य्यन्त अविच्छिन्न रूप से अपने वैभव को भोग करते देखते ह। यद्यपि उनके गुण जैसे के तैसे बने रहते हैं, तथापि उनकी दीप्ति मे अन्तर पड़ जाताहै, क्यों कि नएनए मनुष्यों का उदय होने से पुरानों की कीर्त्ति मलिन होजाती है।

उच्चकुल के लोगोंका जब भाग्योदय होता है, तब, मनुष्य, उनका विशेष मत्सर नहीं करते। कुलीन पुरुषोंकी प्रतिष्ठा होनाहीं वे उचित समझते हैं। प्रतिष्ठित घराने के लोगोंके विषयमें असूया उत्पन्न न होनेका एक और भी कारण है। वह यह है कि उनके अभ्युदय होनेसे भी उनकी प्रतिष्ठा कुछ बहुत नहीं बढ़जाती। मत्सरकी उपमा सूर्यकी किरणोंसे दी जा सकती है। जैसे सूर्यकी किरणैं मिट्टीके एक धुस्स अथवा पृथ्वीके एक ऊंचे भागपर जितनी प्रखरतासे पड़ती हैं, उतनी प्रखरतासे समतल भूमि पर नहीं पडतीं; वैसेही

क्रम क्रमसे जिस मनुष्यकी अति वृद्धि होतीहै, उसका लोग उतना मत्सर नहीं करते जितना वे उस पुरुष का करतेहैं, जो एकही उड्डान में प्रतिष्ठाके शिखरपर पहुँच जाता है।

जो लोग लंबे लंबे प्रवास करके, अथवा नाना प्रकारके दुःख और संकष्ट सहन करके उच्च पद पाते हैं उनका भी बहुत कम मत्सर होता है। मनुष्य समझते हैं कि प्रतिष्ठा पाने के लिये उन लोगोंको अनेक कष्ट सहने पड़े हैं। इसी लिए मनुष्योंको उनपर दया आती है। मत्सर रूप रोगकी दयारूप एक महौषधि है।यही कारण है कि गंभीर और शान्तस्वभावके राजकीय पुरुषोंका जब अभ्युदय होताहै तब वे मुखसे सदैव दुःखोद्गार निकाला करते हैं, और वारंवार यही कहा करते हैं कि हमको इस स्थिति में अतिशय कष्ट है; इस जीनेसे मरजाना अच्छा है; इत्यादि। ऐसे ऐसे उद्गार, उनकी यथार्थ दशाके सूचक नहीं होते, तथापि वे लोग उनको इस लिए प्रयोग किया करते हैं जिसमें कोई उनका मत्सर न करै। यह सिद्धान्त केवल उन्हीं लोगोंके विषयमें चरितार्थ हो सकता है जो काम काजका भार ढूंढ ढूंढ कर स्वयमेव अपने सिरपर लादते हैं। कारण यह है कि महत्वाकांक्षाके वशीभूत होकर सारा काम अपनेही ओर खींच लेनेसे मनुष्यका जितना मत्सर होता है उतना और कोई बात करने स नहीं होता। इसी भांति, यथोचित अधिकार देकर, अपने आधीनस्थ लोगोंकी मान मर्यादा को रक्षित रखनेसे एक वरिष्ठ अधिकारीका जितना कम मत्सर होता है उतना और किसी कारणसे नहीं होता क्योंकि कनिष्ठ अधिकारियोंको अपने अपने अधिकार पर अधिष्ठित देख लोगोंकी दृष्टि वरिष्ठ अधिकारी तक कम पहुँचतीहै।

अभ्युदय होने पर जो लोग औद्धत्य और गर्विष्ठता का व्यवहार करते हैं उनका सबसे अधिक मत्सर होता है। अनेक प्रकार के बाह्याडम्बरों का प्रयोग करके और अपनी स्वर्धा करनेवालों का मान

भंगकरके, ऐसे ऐसे मनुष्य, अपना महत्व सदैव सबको दिखलाया करते हैं। एतादृश उद्धट व्यवहार किए बिना उनको कलही नही पड़ती। इसीसे लोग उनका अतिशय मत्सर करते हैं। परन्तु बुद्धिमान् लोग, कभी कभी, ऐसे ऐसे विषयों मे, जो विशेष महत्वके नहीं हैं, जान बूझकर अपना पराभव दिखाते हैं और तद्द्वारा लोगों का मत्सर शान्त करते हैं। तथापि यह सत्य है कि अभ्युदय होनेपर जो मनुष्य सरल और निष्कपट वर्त्ताव करता है, हां, परंतु, ऐसे वर्त्ताव में व्यर्थ आत्मश्लाघा और गर्वका सञ्चारन होनाचाहिए, उसका लोकमें उतना मत्सर नहीं होता जितना विश्वासघातक और कपटशील बर्ताव करने वाल का होता है। निष्कपट और सरल व्यवहार करनेवाला मनुष्य जानता है कि यह महत्व जो मुझे प्राप्त हुआ है वह चिरस्थायी नहीं है वह यह भी जानता है कि इस वैभव के उपभोग करनेकी मुझमें योग्यता भी नहीं है। इसीसे वह औरों का असूयाभाजन नहीं होता।

दो एक बातें और कहकर इस विषय को समाप्त करेंगे। पहले कह आए हैं कि मत्सर में जादूका कुछ अंश मिला रहताहै। अतः जादूका प्रभाव दूर करनेके लिए जो उपाय किया जाता है वही उपाय मत्सरको दूर करनेके लियेभी करना चाहिए। वह उपाय अपने ऊपरके मत्सर को उतारकर दूसरेके ऊपर रखदेना है। इसी लिए बडे २ लोगोंमें जो बुद्धिमान् होतेहैं वे किसी न किसीको, चतुराई से अग्रेसर करके, उसीपर मत्सर का प्रभाव डालते हैं। ऐसा करनेसे उनको मत्सरकी बाधा नही होती। कामदार, मित्र, सहकारी और नौकर चाकर इत्यादि लोगोंका इस काममें उपयोग होता है। इसके लिए उद्धट और साहसी स्वभाव वाले मनुष्य सहजही मिल जाते हैं। ऐसे मनुष्योंको अधिकार और काम भर मिलना चाहिए; फिर, न वह मत्सरसे डरते हैं न और किसीसे।

राजकीय पुरुषोंका, लोकमें, जो मत्सर होता है, उस विषयमें, अब कुछ कहना है । व्यक्ति विशेष का मत्सर करनेसे कुछभी लाभ नही होता; परन्तु राजकीय पुरुषोंका मत्सर करनेसे लाभ होता है । अत्युच्च पद प्राप्त होनेसे, राजकीय अधिकारी जब अतिशय उन्मत्त हो उठते हैं, तब उनका उन्माद मत्सरसे आच्छादित हो जाता है । मत्सरके कारण, उन लोगोंकी दीप्ति भली भांति नही चमकने पाती । ऐसे उद्दंड अधिकारियोंको, मर्य्यादाके बाहर न जाने देनेके लिए, मत्सर लगाम का काम देता है । अर्वाचीन भाषाओमें मत्सर का दूसरा नाम असन्तोष है । असन्तोषके विषयमें हमको जो कुछ कहनाहै वह हम उस निबन्ध में कहैंगे जिसमें हम 'राजा और प्रजामें परस्पर विरोध' का वर्णन करना चाहते हैं । असन्तोष एक प्रकार का सांक्रामक (स्पर्शजन्य) रोग है । जैसे सांक्रामक रोग सब ओर फैलकर स्वस्थ मनुष्योंके भी ऊपर अपना प्रभाव प्रकट कर के उनके शरीरमें विकार उत्पन्न करदेते हैं, वैसेही असन्तोषभी प्रादुर्भूत होकर, सारे राज्य में फैल जाता है और उसके वशीभूत होनेसे प्रजा को राजा के अच्छे भी काम बुरे देख पड़ते हैं । राजाने बीच बीच में यदि उत्तम भी काम किए तोभी मत्सर के कारण कोई उसकी प्रशंसा नही करता । लोग उलटा यह कहते हैं, कि प्रजा में जो असन्तोष उत्पन्न हुआ है उसी से भयभीतहोकर इस राजाने यह काम किया है, दृढ़ निश्चय तो इसमें हई नहीं । साधारणतया देखते हैं कि सांक्रामक रोग से डरनेसे जैसे उसे कोई घरमें बुला लाता है, वैसे ही असन्तोषसे डरने से राजाओंको और भी अधिक आपत्ति भोगनी पड़ती है ।

सार्वजनिक मत्सर, प्रमुख अधिकारी और कामदार लोगोंको विशेष पीडा पहुँचाता है; स्वयं राजा अथवा राज्य के लिए वह इतना अपाय

कारक नहीं होता। परंतु एक बात निर्विवाद है कि जब एक छोटीसी बातके लिये किसी प्रधान अधिकारीका लोग अतिशय मत्सर करते हैं और असन्तुष्ट होकर उसको अतिशय दूषणीय समझते हैं, अथवा जब सामान्यतः ऊंचे ऊंचे सभी उपाधिकारियों के विषय में प्रजाजन असन्तोष प्रदर्शित करते हैं तब असन्तोष, मत्सर और दूषण का कारण (यद्यपि यह बात गुप्त रहती है) राजाही को समझना चाहिए।

यहांतक सार्वजनिक मत्सर अथवा असन्तोषका विचार हुआ। व्यक्तिविशेष विषयक मत्सरका उल्लेख ऊपर हो चुका है। उसमें और सार्वजनिक मत्सरमें क्या अन्तरहै उसका भी वर्णन होचुका है। साधारणतःमत्सरके विषयमें एक बात और यह कहनी है, कि वह सब मानसिक विकारोंसे अधिक त्रासदायक और जागरूक है। एकवार उसे उत्पन्न भर होना चाहिये; उत्पन्न होकर वह कभी नाशही नहीं होता। और मनोविकार कभी कभी जाग्रत होतेहैं; परन्तु मत्सर को प्रसंग नहीं ढूंढना पड़ता। किसी न किसी के ऊपर वह अपनी सत्ता चलायाही करंता है। इसी लिए किसीने बहुत ठीक कहा है कि, "मत्सर कभी छुट्टी नहीं लेता"। जितने विकार हैं, सबमें प्रेम और मत्सरही ऐसे हैं जो मनुष्य के शरीर को अस्थिशेष कर देते हैं और विकारों से, मनुष्यं की, इस लिए ऐसी दशा नही होती क्यों कि वे चिरस्थायी नहीं रहते। मत्सर एक नितान्त निंद्य और दुष्ट विकार है इसे शैतान कहना चाहिए, क्योंकि जैसे शैतान रात के समय अंधेरे में, चुपचाप आकर, मनुष्यों के अन्तःकरण में दुर्वासनाओं का बीज बोता है वैसेही मत्सर करनेवाला पुरुष भी, छिपे छिपे, दूसरे के सद्गुण को दुर्गुण सिद्ध करने के लिये सदैव तत्पर रहता है।

प्रवास ।

देशान्तरेषु बहुविधभाषावेषादि येन न ज्ञातम् ।
भ्रमता धरणीपीठे तस्य फलं जन्मनो व्यर्थम् ॥
विद्यां वित्तं शिल्पं तावन्नाप्नोति मानवः सम्यक् ।
यावद्व्रजति न भूमौ देशाद्देशान्तरं हृष्टः ॥

पञ्चतन्त्र ।

अप्रौढ वयस्क लोगो के लिए, प्रवास, उनके शिक्षण का एक भाग है; और प्रौढवयस्क लोगों के लिए, अनुभव प्राप्त करने का वह एक मार्ग है । किसी देश विशेष की भाषा मे प्रवेश किए विना जो उस देश को जाता है, उसके लिए यह न कहना चाहिए कि वह पर्य्यटन करने जाताहै, किन्तु यह कहना चाहिए कि वह पाठशाला में पढ़ने जाताहै । हम इसे उत्तम समझते हैं कि युवक जन जब प्रवास करने निकलैं, तब अपने शिक्षक अथवा गम्भीर स्वभाववाले अपने किसी नौकर को वे अपने साथ लेलेवैं । अपना साथी ऐसा होना चाहिए जो विदेश की भाषा का ज्ञान रखता हो, और वह उस देश को पहले कभी गया भी हो । इस प्रकार का मनुष्य साथ होनेसे, प्रवास करने वाले को, वह, यथा समय, यह बतलाता जायगा कि जिस देश में वे पर्यटन कररहे हैं उसमे कौन कौन वस्तु देखने योग्यहै, कौन कौन पुरुष भेट करने योग्य हैं, और कौन कौन बात सीखने योग्य है । ऐसा मनुष्य साथ न होनेसे,

---

१ देशान्तर में भ्रमण करके, जिस मनुष्यने, नाना प्रकारकी भाषा और वेष इत्यादि का ज्ञान नहीं सम्पादन किया, उनका, इस भूतल पर जन्म लेनाही व्यर्थ है । जगत्में जबतक मनष्य देश देशान्तरों का आनन्द पूर्वक अवलोकन नही करता तबतक विद्या, वित्त औ शिल्प कौशलका उसे सम्यक् लाभ नहीं होता ।

तरुण लोग, नेत्रों पर परदासा डाल कर चलैंगे; प्रेक्षणीय वस्तुओं की ओर उनकी दृष्टि बहुत कम पहुँचैगी।

यह एक आश्चर्यकी बात है कि समुद्रमें जहां ऊपर आकाश और नीचे पानीके अतिरिक्त और कुछ नहीं देख पड़ता, वहां तो लोग दिनचर्य्या रखते हैं; परन्तु पृथ्वी पर जहां कितनीही दर्शनीय सामग्री हैं, वहां पर्यटन करते समय बहुधा वे दिनचर्य्यातक नहीं रखते। क्या वे यह समझते हैं कि भलीभांति अवलोकन की गई बातोंकी अपेक्षा आकस्मिक बातोंका लिख रखना अधिक उपयोगी होता है! नहीं, दिनचर्य्या अवश्य रखनी चाहिए।

विदेश जाकर, जो कुछ देखना और ध्यानमें रखना चाहिए वह यह है;--राजसभा--विशेषतः जब अन्य देशीय राजाओंके प्रतिनिधियोंका सभामे समागम होता है; न्यायालय-जिस समय वाद प्रतिवाद होता है; धर्म्माधिकारियोंके समाज; देवालय और महात्माओंके आश्रम तथा स्मरणके लिए उनमें रक्खे हुए उपलब्ध पदार्थ; छोटे बड़े सब नगरोंकी दीवारें और दुर्ग; सामुद्रिक बन्दर और घाट; पौराणिक पदार्थ और टूटी फूटी पुरानी इमारतैं; पुस्तकालय, विद्यालय, और जहां वाद विवाद अथवा व्याख्यान होते हों वह स्थान; सामुद्रिक यान, धूमपोत और उनके बेड़े; बड़े नगरोंके निकट विहारके लिए बनाए गए राजमन्दिर और उद्यान; आयुधागार, तोपखाने, गोला, बारूद आदि रखनेके स्थान; लेन देनका बाज़ार, महाजनोंकी कोठी, घोड़ोंका फेरना, व्यायाम भूमि, सैनिक लोगोंका अभ्यास इत्यादि, ऐसी ऐसी नाट्यशाला जहां प्रतिष्ठित घरानेके लोग जाते हों; रत्नागार, बहु-मूल्य वस्त्रागार; राजाओंकी मन्त्रिसभा; अपूर्व और अप्राप्य पदार्थोंका संग्रहालय—सारांश जहां जो कुछ देखनेके योग्य हो वहां वह सब देखना चाहिए। शिक्षक अथवा नौकर को इस बातका भलीभांति अनुसन्धान कर लेना चाहिए कि कहां कहां क्या क्या वस्तु प्रेक्षणीय

है। चित्र विचित्र खेल, विवाहोत्सव, भोजन समारम्भ, शवयात्रा, वधदंड इत्यादि काभी स्मरण दिलानेकी आवश्यकता नहीं। प्रसंग पड़ने पर उनकोभी देखना चाहिए।

किसी अप्रौढवयस्क तरुणको यदि थोड़ेही समयमें अनेक बातोंका ज्ञान सम्पादन करनेकी इच्छा हो, तो हमारे कहनेके अनुसार उसको चलना चाहिए। जिस देशमें पर्य्यटन करना है उस देशकी भाषाका थोड़ा बहुत ज्ञान अवश्य होना चाहिए; यह पहले कह आए हैं। फिर साथमें एक ऐसा शिक्षक अथवा नौकर होना चाहिए जिसने उस देशमें एक बार भ्रमण कियाहो, इसकाभी ऊपर उल्लेख हो चुका है। जिस देशमें परिभ्रमण करना है उस देशका मानचित्र (नक़्शा,) अथवा जिसमे उस देशका वर्णन हो ऐसी एक आध पुस्तक साथ रखना चाहिए; ऐसा करनेसे विशेष पूंछ पांछ करनेकी आवश्यकता न पड़ैगी। दिनचर्य्या भी रखनी चाहिए, एकही स्थान अथवा एकही नगरमें बहुत दिन तक न रहना चाहिए। जिस स्थान अथवा जिस नगरमें जितने दिन रहनेकी आवश्यकता हो उतनेही दिन रहकर स्थानान्तरमें गमन करना उचित है। जब किसी नगरमें रहनेका प्रसंग पड़े, तब चलनेके समय तक वहां एकही भागमें न रहकर, थोड़े थोड़े दिनके लिए कई भागोंमे निवास करना अच्छा है। दो एक दिन एक महल्लेमें, दो एक दिन दूसरेमें, दो एक दिन तीसरेमें, इस प्रकार रहना चाहिए। ऐसा करनेसे जान पहँचान बढ़ती है। अपने देशके लोग जहां रहते हों वहां न रहना चाहिए! भोजन ऐसे स्थान में करना चाहिए जहां बड़े बड़े लोग एकत्र होते हों। स्थानान्तर करते समय तत्रस्थ किसी प्रतिष्ठित पुरुष के नाम कहीं से एक आध सिफ़ारशी पत्र प्राप्त करना चाहिए। ऐसा करने से, जो जो वस्तु देखने अथवा जानने के योग्य है उसके देखने अथवा जाननें में, उस प्रतिष्ठित पुरुष की कृपासे, विशेष सुविधा

होगी। इस प्रकारके सदनुष्ठान से थोड़ेही समय मे बहुत लाभ होगा।

अब यह देखना है कि प्रवास में किस किस का समागम श्रेयस्कर होता है। अन्य देशीय राजाओं के वकील, दूत और कामदार इत्यादिकों से परिचय करना बहुतही लाभदायक है। इन लोगों के परिचय से एक देशमें प्रवास करके अनेक देशों का ज्ञान सहजही होजाता है। इसी प्रकार, जो लोग देशदेशान्तर में प्रख्यात हों उनसे भी मिलना और वार्त्तालाप करना चाहिए। ऐसा करने से मनुष्य को यह विदित हो जायगा कि जैसा उनका नाम है तदनुरूप उनका चरित भी है अथवा नहीं।

सुविचार और सुयुक्ति का व्यवहार करके लड़ाई झगड़े जहां तकटलैं टालने चाहिए। ... ... । कलह प्रिय और पित्त प्रकृति मनुष्यों की संगति से दूर रहना चाहिए। ऐसे मनुष्य प्रवासी के साथ बहुधा, व्यर्थ कलह करने लगते हैं। इनसे सावधान रहना चाहिए।

प्रवास से प्रत्यागमन करके, जिन जिन देशों को देखाहो उनको भूल न जाना चाहिए। विदेश में जिनसे परिचय होगया हों, उनमें से जो सबसे अधिक प्रतिष्ठित हों उनसे पत्र व्यवहार रखना चाहिए। विदेशी हाव भाव और वेषभूषण ग्रहण करके, अपने प्रवास की साक्षी न देनी चाहिये किन्तु वार्त्तालाप ऐसा करना चाहिए जिससे लोग समझजावें कि इसने प्रवास किया है। विना पूंछे, अपने मुखसे अपने प्रवासकी कथा न कहनी चाहिये; परन्तु जब कोई उस विषयमें कुछ पूंछै तो यथोचित उत्तर देना चाहिए। वर्ताव इस प्रकारका रखना उचित है जिससे कोई यह न समझे कि इसने अपनी चाल ढाल छोड़ विदेशकी चाल ढाल स्वीकारकी हैं, किन्तु यह समझे कि विदेशमें जो कुछ उपादेय और उत्तम है उसे, अपने देशमें प्रचलित करनेकी इच्छासे इसने ग्रहण किया है।

नई प्रथा ।

पुराणमित्येव न साधु सर्वं ।
न चापि नूनं नव मित्यवद्यम् ॥
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते ।
मूढः परप्रत्ययनेय बुद्धिः ॥

मालविकाग्नि मित्र ।

जितने प्राणी हैं, जन्म लेनेके समय, प्रथमतः सभी कुरूप होते हैं। नई नई प्रथायेंभी आरम्भमें, उसी भांति, बेढंगी होती हैं यह एक साधारण नियम हुआ; कभी कभी इसके विरुद्ध भी घटना होती है। जैसा समय आता है वैसीही प्रथायेंभी प्रचलित होजाती हैं; अतः यह कहना चाहिए कि नई नई प्रथायें जो व्यवहारमें आती हैं वे समयकी सन्तति हैं। जो पुरुष प्रथमही प्रथम अपने कुलकी मान मर्य्यादा बढ़ानेके कारणीभूत होते हैं उनकी जितनी प्रतिष्ठा होती है उतनी उनके अनन्तर होनेवाले उनके वंशजोंकी नहीं होती। इसी भांति प्रथमही प्रथम प्रचारमें लाई गई प्रथायें जैसी अच्छी होती हैं वैसी पीछेसे औरोंके द्वारा अनुकरणकी गई प्रथायें नहीं होती। मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति बुरी बातोंकी ओर अधिक होती है; अतः जो कुछ बुरा है उस विषयमें लोगोंकी वासना सदैव जागृत रहती है परन्तु जो कुछ अच्छा है उसके विषयमें, वह पहिले प्रबल होकर धीरे धीरे कम होती जाती है। नवीन रीतियोंकी भी यही दशा है।

---

१ जो कुछ पुराना है सभी अच्छाहै—यह कहना ठीक नहीं; और जो कुछ नयाहै सभी बुराहै—यह कहना भी ठीक नहीं; । सत्पुरुष, परीक्षा द्वारा, अच्छे बुरेका भेद जानकर, दोमेंसे जो ग्राह्य होता है उसीको ग्रहण करतेहैं। परंतु मूर्खमनुष्य भेड़िया धसान होते हैं; दूसरेने जो कुछ कहा वही वह मान लेते हैं।

जितनी स्वाभाविक रीतियां हैं वे सदैव दृढ़ बनी रहती हैं, परन्तु जितनी अस्वाभाविक हैं वे पहले प्रबल होकर धीरे धीरे बलहीन हो जाती हैं।

यह समझना भूल है कि जो कुछ नया है सभी बुरा है। जितनी औषधियाँ हैं उन सबके सेवनकी रीति किसी न किसी समयमें अवश्य नवीन ही निकली होगी। अतः जो नवीन आविष्कृत की हुई औषधियों को प्रयोगमें न लावेगा उसे नवीन रोगोसे अभिभूत होने के लिए भी प्रस्तुत रहना चाहिए। यह जगत् परिवर्तनशील है; इसमें समयानुसार सभी वस्तुओंका स्थित्यन्तर हुआ करता है। यदि समय के फेरसे, परिवर्तन होनेके कारण अपनी स्थितिको बुरी दशा प्राप्त होती हो, और यदि सुविचार और सत्परामर्शकी सहायतासे हम इसके सुधारनेका यत्न न करें, तो कहिये हमारी इस असावधानता का क्या फल होगा ?

यह सत्य है कि जो बातें, रूढिके अनुसार, बहुत दिनोंसे चली आई हैं वे यद्यपि अच्छी न हुई तथापि अभ्यास पड़जानेसे यही जान पड़ता है कि वे अच्छी नहीं तो समयोचित अवश्य हैं। जो बातें, चिरकालसे, साथही साथ हुआ करतीहैं वे एक दूसरेकी सह वासिनी सी जान पड़ती हैं। परन्तु नई और पुरानी बातोंका मेल नहीं मिलता। उपयोगी होनेके कारण नई बातोंसे मनुष्यको यद्यपि सहायता मिलती है तथापि उनका असादृश्य त्रासदायक होता है। नई बातें अपरिचित मनुष्योंके समान हैं। जिनसे परिचय नहीं होता उनकी प्रशंसातो सब कोई करताहै, परन्तु उनपर अनुग्रह कोई नहीं करता अर्थात् उनको कोई कुछ देता नहीं। वैसेही, मनुष्य, नवीन रीतियों की मुखसे प्रशंसा करते हैं, तथापि उनको स्वीकार नहीं करते। यदि समय स्थिर होता तो यह सब ठीक था, परन्तु वह इतने वेगसे दौडता है कि किसी नई प्रथाके स्वीकार करनेसे जितनी असुविधा होती है उत-

नीहीं पुरानी प्रथाको हठपूर्वक प्रचलित रखनेसे होती है। यही कारण है कि जो पुरानी रीति भांतिके अतिशय पक्षपाती होते हैं उनका नए समयमें उपहास होता है । अतः मनुष्योंको चाहिए, कि जब वे कोई नई चालढाल निकालना चाहें, तब समय की ओर अवश्य ध्यान रक्खें। समय सदैव नया होता जाता है और अपने साथही नई नई प्रथायेंभी लाता है। समयके साथ साथ जो प्रथायें आती हैं वे, चुपचाप, क्रम क्रमसे आती हैं। उनका आना किसीके ध्यानमें भी नहीं आता। नई नई बातोंके प्रचारके लिए समयपर निर्भर न रहकर उनको व्यवहारमे बलात् प्रविष्ट करना अच्छा नही, क्योंकि नई नई बातोंको अंगीकार करनेके लिए स्वभावहीसे मनुष्य प्रस्तुत नहीं रहते। उनके प्रचलित होनेसे, यदि अनेकोंको लाभ होता है तो अनेकोंको हानि भी होतीहै। जिसको लाभ होता है, वह अपना सौभाग्य समझता है और समयको धन्यवाद देता है। परन्तु जिसको हानि होती है, वह समझता है कि उसे अकारण दंड हुआ और नवीन प्रथाके प्रचलित करनेवाले को गालियां देता है।

यदि नई नई प्रथाओंके प्रचलित करनेकी अतिशय आवश्यकता न हो, और यदि उनके प्रचलित होनेसे निश्चित रूपमें लाभ होनेके लक्षण स्पष्ट न दिखलाई देते हों, तो, उनको केवल परीक्षाके लिए प्रविष्ट करनेका प्रयत्न न करना चाहिए। यदि नई प्रथायें प्रचलित करनी हीं पड़ें, तो यह सिद्ध करके दिखलाना चाहिए कि तत्कालीन प्रणालीके अनुसार उनका व्यवहारमें लायाजाना अत्यावश्यक है। किसीको यह न भास होने पावै कि नई नई प्रथाओंको प्रचलित करनेहीं की इच्छासे परिवर्तन किया गया है इस विषयमें सदैव सावधान रहना चाहिए। एक बात यह और स्मरण रखनी चाहिए कि किसी नई चालको लोगोंने अमान्य नभी किया तो भी, उनको उस विषयमे संशय उत्पन्न होनेका अवसर न मिलने देना चाहिए। धर्म्म

शास्त्रकी आज्ञानुसार "प्राचीन मार्गमें खड़े होकर, हम लोगोंको, अपने चारों ओर देखना चाहिए; तदनन्तर सीधे और सच्चे मार्गका पता लगाकर उसींसे गमन करना चाहिए"।

निरीश्वरमत।

विश्वं विलोक्याप्यखिलं तदीय-
कर्तारमीशं नहि मन्यते यः॥
अहं हि जातो जनकं विनेति
न भाषते विज्ञवरः कथं सः॥ १॥

स्फुट।

यह बात माननेकी अपेक्षा कि इस संसारचक्रका कोई भी नायक नहीं, मुसल्मानोके अलकुरान, यहूदियोंके तालमूद और रोमन कैथलिक सम्प्रदायवाले क्रिश्चियन लोगोंके लिजेंड नामक ग्रन्थोंमें जो, नाना प्रकारकी साधु सन्त सम्बन्धी कहानियां भरी हैं, उन सबको सचमान लेनेके लिए हम प्रस्तुत हैं। ईश्वरकी सामान्यसे भी सामान्य प्राकृतिक लीलायें उसके अस्तित्वकी साक्षी दे रही हैं। इसी लिए ईश्वरने निरीश्वर मतवालोंको अपने अस्तित्वका प्रमाण देनेके लिए अद्भुत अद्भुत चमत्कार दिखलानेके आडम्बरकी योजना नहीं की। जो मनुष्य अल्पज्ञ "ज्ञानलवदुर्विदग्ध" हैं वही विशेष करके निरीश्वरमतकी ओर झुकते हैं। जो अच्छे ज्ञानवान् हैं उनका मन धर्म्मको छोड़ अधर्म्मका कभी आश्रय नहीं लेता। मनुष्य का मन, जब तक, ब्राह्मसृष्टि की कार्य कारण रूप गौण बातों का विचार करता है, तबतक, वह, कभी कभी, उन्हीं की मीमांसा में निमग्न रहजाताहै; उनके आगे जो इस विश्व का आदि कारण है, वहां तक उसकी पहुँचही नहीं होती। परन्तु, जब, इन

---

१ इस विस्तृत विश्वमंडलको देखकर भी—इसका कर्ता ईश्वरहै—यह जो मनुष्य नहीं मानता, वह विज्ञवर ऐसा क्यों नहीं कहता कि मैं विना बापके पैदा होगया।

कार्यकारणो की शृंखला उसके दृग्गोचर होती है, और एक का सम्बन्ध दूसरे से और दूसरे का तीसरे से देखते देखते जब वह इस कार्य कारण मालिका के छोर तक पहुँच जाता है, तब ईश्वर का आस्तित्व अंगीकार किए विना वह नहीं रह सकता। * * * * *

धर्म्मग्रन्थ में यह लिखाहै, कि मूर्ख मनुष्य अपने मन में कहा करता है, कि ईश्वर नहीं है। परन्तु यह कहीं नहीं लिखा, कि ईश्वरका न होना उसका मन स्वीकार करताहै। इससे यह फलितार्थ निकलता है, कि अपने मन को समझानेके लिए चाहै कोई, "ईश्वर नहीं है," "ईश्वर नहीं है" इस प्रकार का घोष किया करै, परन्तु इससे यह प्रमाणित नहीं होता, कि उसका मन इस सिद्धान्त को ग्रहण करता है और तदनुरूप व्यवहार करने के लिए वह सिद्ध रहता है। यदि ईश्वर न होता तो उन लोगोंको छोंडकर जिनको कुछ लाभ हुआ होता और कोई यह न कहता कि ईश्वर नहीं है। मनुष्य के ओष्ठोंही में निरीश्वर मत बास करता है; हृदय में नहीं। इसीसे निरीश्वर वादी अपने मत के विषय में सदैवही वाद विवाद किया करते हैं; मानो अपने मतकी सत्यता का उनको स्वयंही निश्चय नहीं रहता; और निश्चय न रहने से मानौं दूसरे की अनुमति ग्रहण करके उसे वे पुष्ट करना चाहते हैं। यहां तक, कि जैसे और सम्प्रदायवाले शिष्य ढूंढा करते हैं वैसेही निरीश्वर वादी भी अपना शिष्यसमुदाय बढ़ाने के यत्न में रहते हैं। सबसे अधिक आश्चर्यकी बात तो यह है कि निरीश्वर वादी लोग अनेक कष्ट सहते हैं परन्तु ईश्वरका अस्तित्व नहीं अंगीकार करते। यदि उनकी धारणा सत्य सत्य यही है कि ईश्वरही नहीं है, तो फिर, हम नहीं जानते, वे इतना दुःख व्यर्थ क्यों उठाते हैं? "महात्मा हैं परन्तु सांसारिक ...को वे आदर दृष्टिसे नहीं देखते, वे सबसे निरालेही रहते हैं,

और आनन्द पूर्वक कालातियान करते हैं"—यह यपीक्यूरसका वचन है। उस पर यह दोषारोप किया जाता है कि यह वाक्य जो उसने कहा है वह ठीक नहीं कहा। कहते हैं कि यपीक्यूरसका आभ्यन्तरिक मत तो यह था कि ईश्वर नहीं है परन्तु उस सिद्धान्तको गुप्त रखकर, वह, उपरोक्त सदृश वाक्य कहकर लोगोंसे अपना पीछा छुड़ाताथा। यह आरोप उस पर व्यर्थ रक्खा जाता है, क्योंकि उसकी और और उक्तियां विशेष उदार और दिव्य हैं। एक स्थलपर उसने कहा है कि "नीच जातिके लोगोंके देवताओंको देवता न माननेसे ईश्वरकी निन्दा नहीं होती; किन्तु देवताओंके विषयमें, उन लोगोंके जो अनुचित और अग्राह्य मत हैं उनके द्वारा देवताओंका देवत्व सिद्ध करनेसे ईश्वरकी निन्दा होती है"। प्लेटो भी इससे अधिक और क्या कह सकता? यद्यपि उसने विश्वासपूर्वक कहदिया कि इस संसार चक्रका चालक ईश्वर नहीं है, तथापि उसे यह कहनेका साहस नही हुआ कि ईश्वर है ही नही। पश्चिमी गोलार्द्धमें जो इंडियन लोग रहते हैं उनके यहां प्रत्येक देवताके लिए एक एक नाम है; परन्तु ईश्वरके लिए कोई नाम नहीं; जिससे यह सिद्ध होता है, कि यद्यपि इन असद्धर्मी जंगली लोगोंके मनमें ईश्वर विषयक पूरी पूरी कल्पना नहीं उद्भूत हुई, तथापि उसके अस्तित्वका कुछ न कुछ इनको भी ज्ञानहै। ग्रीक लोगोने भी, पहले, देवताओंके जुपिटर, अपोलो, मार्स इत्यादि

---

१ ग्रीसमें यपीक्यूरस एक उत्तम तत्त्ववेत्ता होगया है। सुनते हैं इसने३०० पुस्तकें तात्त्विकविषयों पर लिखकर प्रकाशकी थीं। जिस समय यपीक्यूरस का वय १२ वर्ष का था उस समय इसके अध्यापकने इसे यह सिखाया कि "सृष्टिके आदिमें पञ्चतत्त्व उत्पन्न किएगए"। इसपर यपीक्यूरसने पूछा "किसने उत्पन्न किए" अध्यापक ने उत्तर दिया, "इस बातको मैं नहीं जानता; तत्त्ववेत्ता लोग जानते है"। तब यपीक्यूरसने कहा, "आज से मैं तत्ववेत्ताओं ही से अध्ययन करूंगा" यह बड़ा विद्वान् था। "अनेक अज्ञात पूर्व बातों को सिद्ध करके ७२ वर्ष के वयमें, २७० वर्ष ईसा के पहले इसने इस लोकसे प्रस्थान किया। मूत्रावरोधसे इसकी मृत्यु हुई"।

अनेक नाम नियत किए थे; परन्तु ईश्वरवाची 'द्यौः' शब्दतक उनकी पहुँच नहीं हुई थी । अब देखिए कि महा असभ्य जंगली लोगोंसे लेकर बड़े बड़े तत्त्ववेत्ताओंतक सभी निरीश्वर मत वालोंके प्रतिपक्षी होरहे हैं । मनसा, वाचा, कर्म्मणा ईश्वरका अस्तित्व न स्वीकार करनेवाले नास्तिक बहुत कम हैं । एक आध डियागोरस, बायॅन, लूशियॅन, अथवा ऐसेही और दो चार, बस । तथापि निरीश्वर वादी लोगोंकी यथार्थतः जितनी संख्या है तदपेक्षा उसके अधिक होनेका भास होता है । इसका यह कारण है कि वर्तमान धर्म्म अथवा भ्रमात्मक धर्म्मभीरुताके विरुद्ध जो कोई कुछ कहता है उसकी निरीश्वर वादियोंमें गणना होने लगती है । हमारे मतके अनुसार तो सबसे बढ़े चढ़े निरीश्वर वादी वे हैं जो धार्म्मिक विषयोंमें दम्भ और कपटका व्यवहार करते हैं । ऐसे लोग, बाहर धर्म्मशीलताके हाव भाव दिखलातेहैं, परन्तु अन्तःकरणमें वे सद्धर्म्मका लेश भी नहीं रखते । पहँचानके लिए इनके मस्तक पर कोई चिह्न होना चाहिए ।

---

१ डियागोरस, ग्रीसमें, एक परम नास्तिक होगया है । इसका किसी धर्म्म पर विश्वास न था । एक बार एक मनुष्यने न्यायालय में झूँठ बोला और झूंठ बोलकर भी वह दंड पानेसे बच गया । इस बातको देखकर, डियागोरसने सर्व साधारणके सामने, ईश्वर में अपना अविश्वास प्रकट किया और उस दिनसे देवता तथा धर्म्म सम्बन्धी सारी बातों का यह उपहास करने लगा। इसका शिर काट लाने वाले को विशेष द्रव्यदेनेकी घोषणा प्रकाशित हुई थी । इसे सुनकर डियागोरस कारिंथ को भाग गयाथा । वहां जाकर इस संसारसेंभी इसे शीघ्रही भागना पड़ा । यह ईसा के लगभग ४१६ वर्ष पहले विद्यमान था ।

२बायन भी निरीश्वर वादी था । एथन्स् में इसने तत्त्वज्ञान सीखा था। यह थियोडोरस का शिष्यथा । इसका विशेषवृत्त विदित नही है ।

३ ईजिप्टके एक रोमन गवर्नर के पास लूशियन नामक एक अधिकारी था। इसने अनेक ग्रन्थ लिखेहैं । न अपने देशके धर्म्म पर इसको विश्वास था और न और देशके धर्म्म पर । क्रिश्चियन मत पर भी इसने बहुत कुछ आक्षेप किया । सन् १८० ईसवी में ९० वर्ष का होकर यह मृत्युको प्राप्त हुआ ।

निरीश्वरवादके उत्पन्न होनेके कई कारण हैं। एक धर्म्मकी अनेक शाखायें होजाना पहला कारण है। दोही शाखायें होनेसे दोनों के अनुयायी जनोंका, परस्परको देखकर, उत्साह बढ़ता रहता है; परन्तु अनेक शाखाओंके होनेसे निरीश्वरता अवश्य उत्पन्न होतीहै। नास्तिकताके प्रादुर्भूत होनेका दूसरा कारण धर्म्माधिकारियोंका दुराचरण है। धर्म्माधिकारियोंके अनाचारसे जो दशा होतीहै उसका सेन्ट बरनार्ड नामक महात्माने अच्छा वर्णन किया है। वह कहता है "बात इस स्थितिको पहुँच गई है कि इस समय यह भी नहीं कह सकते कि जैसे सर्व साधारण मनुष्य हैं वैसे धर्म्माधिकारी भी हैं; क्योंकि सर्वसाधारणका वैसा बुरा वर्त्ताव नहीं जैसा धर्म्माचार्योंका है"। धार्म्मिक विषयोंको धिक्कार दृष्टिसे देखना और उनकी हेलना करना नास्तिकताके प्रवेश होनेका तीसरा कारण है। ऐसा करनेसे लोगोंकी श्रद्धा धीरे धीरे धर्म्मसे उठ जाती है। विद्याकी अधिक वृद्धि होना नास्तिकता उत्पन्न होनेका अन्तिम कारण है—विशेष करके उस समय जब देशमें शान्ति और सम्पत्ति दोनों वास करती हैं। ठीकही है; धर्म्मकी ओर मनुष्योंकी प्रवृत्ति तभी होती है जब उनपर विपत्ति आती है और तज्जनित अनेक कष्ट उनको सहने पड़ते हैं।

जो ईश्वरका अस्तित्व नहीं स्वीकार करते वे मनुष्यकी श्रेष्ठताको हानि पहुँचाते हैं। जिन पञ्चमहाभूतोंसे पशुओंका शरीर बना है उन्हींसे मनुष्यका भी बना है। मनुष्यका पार्थिव शरीर पशुओंके शरीरसे निकट सम्बन्ध रखता है। अतः आत्मोन्नतिद्वारा, मनुष्य यदि अपनेको ईश्वरका निकटवर्त्ती नहीं बना सकता तो वह मनुष्य नहीं किन्तु एक महानिंद्य और नीच पशु है। निरीश्वरता स्वीकार करनेसे उदारता और आत्मोत्कर्ष दोनों का नाश होजाता है। इस

सम्बन्धमें कुत्तेका उदाहरण लीजिए। कुत्ता जब यह देखता है कि मेरी सहायता कोई मनुष्य कर रहा है तब वह अपूर्व शौर्य दिखलाता है। कुत्तेके लिए मनुष्यही ईश्वर है। मनुष्यको वह सर्वश्रेष्ठ मानता है। यह बात स्पष्ट है कि कुत्ता यदि मनुष्यको अपनेसे श्रेष्ठ और अपने संरक्षण करनेके लिए समर्थ न समझता तो वह इतना शौर्य कदापि न दिखा सकता। इसीप्रकार मनुष्य, जब अपनी रक्षाका भार ईश्वर पर रखता है और यह समझता है कि उसीकी कृपासे मेरा कल्याण होगा तब उसमें एक प्रकारके विलक्षण बल और विश्वास का उदय होता है। ईश्वर में आस्था हुए विना एतादृश बल और विश्वास नहीं आसकता। निरीश्वर मत सब प्रकारसे निंद्य है। उसका अवलंबन करनेसे मानुषिक दुर्बलतासे मुक्त होकर मनुष्यको अपने आत्माकी उन्नति करनेकी आशासे हाथ धोना पड़ता है। इस विषयमें जो नियम व्यक्ति विशेषके लिए चरितार्थ होता है वही नियम जाति विशेषके लिए भी होता है। प्राचीन समयमें रोमन लोग जितने उदार और मनस्वी थे उतने और कोई न थे। उन लोगोंसे सिसरो क्या कहता है सो सुनिए। वह कहता है:—"हे रोमवासी! हम लोग अपने मुखसे अपनी चाहे जितनी प्रशंसा करैं, हमैं कोई रोक नहीं सकता; परन्तु एक बात स्मरण रखने योग्य है। वह यह है कि हम लोगों ने जो स्पेनवालों को परास्त किया वह सैन्यबलसे नहीं; गॉल लोगो को जो विजय किया वह बाहु बलसे नहीं; पीनी लोगों को जो वशमें कर लिया वह युद्ध कौशल से नहीं; ग्रीक लोगों को जो पराजित किया वह युक्ति से नहीं; और जाने दीजिए स्वयं इटेलियन और लैटिन लोगों पर भी जो हमने अपनी सत्ता चलाई वह वे और हम एकजातीय तथा एकदेशीय हैं इस कारण से नहीं; किन्तु इस कारण से कि औरौं की अपेक्षा हममें ईश्वर भक्ति अधिक है; औरौं की अपेक्षा हममें धार्म्मिकता अधिक है, औरो की अपेक्षा हमको इसका

ज्ञान अधिक है कि यह संसारचक्र केवल ईश्वरही की आज्ञासे चलरहा है। इन्हीं कारणों से, हम लोग औरों के ऊपर आधिपत्य करने मे समर्थ हुए हैं"।

सौजन्य और परोपकार।

वेदनं प्रसादसदनं सदयं हृदयं सुधामुचो वाचः।
करणं परोप रणं येषां केषां न ते वंद्याः॥ १॥

सुभाषितरत्नभाण्डागार।

मनुष्यों को दुःखित देख उनके दुःखों के परिमार्जन करने की भावनाहीं सौजन्य का सर्वोत्तम लक्षण है। इसी को–अर्थात् दूसरों का कल्याण चिन्तन करने वाली बुद्धि को–ग्रीक लोगों ने 'भूतदया' के नाम से उल्लेख किया है। एतादृशी सद्बुद्धि अथवा सौजन्य के लिए 'भूतदया'–यह नाम विशेष शोभा देता है; 'मनुष्य धर्म्म' अथवा और कोई नाम देने से उसमें न्यूनता आजाती है। परोपकार बुद्धि की वासना के अनुसार वर्त्ताव करने का अभ्यास पड़ते पड़ते पूरी पूरी सुजनता उदित होती है। मनुष्य मे जितने सद्गुण और जितने उच्चधर्म्म हैं उन सबमें सौजन्य श्रेष्ठ है। कारण यह है कि सौजन्य ऐश्वरीय गुण है। मनुष्य में यदि सौजन्य न होतो वह केवल उदरपोष क उपद्रवी और दरिद्री जीव है। ऐसे मनुष्य में और छोटे छोटे कृमिकीटकादिकों में विशेष अन्तर नहीं। वेदान्त शास्त्र में दयाकी अतिशय महिमा वर्णन कीगई है। दयाही का दूसरा नाम सौजन्य है। सौजन्य मे चाहै और किसी प्रकारकी भूल होजावै परन्तु मर्य्यादा के

---

१ मुख जिनका प्रसादसे परिपूर्ण है, हृदय जिनका दयालु है, वाणी जिनकी सुधामयी है, कर्तव्य कर्म्म जिनका केवल परोपकार है–ऐसे सत्पुरुष किसके वन्दन करने योग्य नहीं?

बाहर जाने की भूल नहीं होसकती । देवदूतों को मर्य्यादा के बाहर प्रभुत्व पानेकी इच्छा हुई; इसीसे उनका अधःपतन हुआ । मनुष्यको मर्य्यादाके बाहर ज्ञान सम्पादन करनेकी इच्छा हुई; अतः उसकाभी अधःपतन हुआ । परन्तु सौजन्यकी मर्य्यादा नहीं; अतएव न तो उससे देवदूतोंहींको किसी प्रकारका भय है और न मनुष्योंहीं को भय है । दूसरेका कल्याण करनेकी वासना, मनुष्यके मनमें, स्वभावहींसे खचित रहती है; यहां तक कि यदि उसकी प्रवृत्ति मनुष्यकी ओर न हुई तो और और जीवोंकी ओर होजाती है । तुर्क लोगोंको देखिये । ये लोग महा निर्दयी और क्रूर होतेहैं; परन्तु पशुओंको वे विशेष दयादृष्टिसे देखतेहैं, और कुत्ते तथा पक्षियों तकको खिलाते पिलाते हैं । बसवीचियसने लिखा है कि कांस्टेंटिनोपलमें एक बार एक क्रिश्चियन लड़के ने किसी लंबे चोंचवाले पक्षीके मुखमें कपड़ा भर कर उसका बोलना बन्द कर दिया । इस नटखटताको देख, तुर्क लोग, उसके ऊपर पत्थर बरसाने लगे ।

सौजन्य और दानशीलतामें प्रमाद होना सम्भव है । इटैलियन लोगोंमें एक अप्रशस्त कहावत प्रसिद्ध है कि "अमुक मनुष्य इतना अच्छा है कि वह किसी अच्छे कामके योग्य नहीं" । इटलीके डाक्टर

---

१ क्रिश्चियन लोगों का कथन है कि देवदूतोंको, देवताओंसे भी अधिक प्रभुत्वशाली होनेकी इच्छा हुई । अतः उन्हों ने देवताओं से विरोध आरम्भ किया । इस आचरणसे देवता अप्रसन्न हुए और उन्होंने देव दूतों को स्वर्ग से निकाल दिया ।

२ देवताओंने एक मनुष्य युग्म उत्पन्न करके उन दोनोंको एक वाटिका में रक्खा और कहा, कि तुम लोग और सब वृक्षोंके फल खाना, परन्तु 'ज्ञानवृक्ष' के फलों को हाथ मत लगाना । इस आज्ञाकी ओर ध्यान न देकर, ज्ञानवान होने के लालचसे, उस मानवजोड़ीने, 'ज्ञानवृक्ष' के भी फल खा लिए; जिसका परिणाम यह हुआ, कि देवताओंने उस युग्म को उस वाटिकासे निकाल दिया यह भी क्रिश्चियन लोगोंका कथन है ।

निकलस मैचियाव्यलको तो इसमें इतना विश्वास था कि उसने स्पष्टाक्षरोमें यह लिख दिया है कि क्रिश्चियन धर्म्मने अपने अनेक सत्स्वभाव और दयालु अनुगामियोंको क्रूर और अन्यायी जनोके फंद में फँसाया है। यह उसने इस लिए कहा है; क्योंकि दयाशील-ताको जितना महत्व क्रिश्चियन धर्म्ममें दिया गया है, उतना और किसी धर्म्म पन्थ अथवा मतमें नहीं दियागया। अतएव मनुष्यको चाहिए कि वह इस बातका सदैव विचार रक्खै कि अधिक दयाशील होनेसे क्या बनता है और क्या बिगड़ता है; तथा उससे क्या हानि है और क्या लाभ है? यदि दया दिखलानेका परिणाम बुरा होता हो तो उससे बचना चाहिए। दूसरोंका कल्याण करनेके लिए दत्त-चित्त होना उचित है, परन्तु उनके बाहरी स्वरूप और आडम्बरको देखकर उनके फंदेमें फंसना अच्छा नहीं। दूसरोंकी मीठी मीठी बातोंमें सहसा न आजाना चाहिए। ईसापके कथनानुसार मुर्गेको हीरा मत दो। ज्वारका एक दाना देनेसे वह अधिक प्रसन्न और सुखी होगा। परोपकार करने और सौजन्य दिखलानेमें ईश्वरका अनुकरण करना चाहिए। न्यायी और अन्यायी--सभीके उपयोगके लिए ईश्वर पानी बरसाता है और सूर्यको प्रकाशित करता है; परन्तु सम्पत्ति सबको वह बराबर नहीं देता और न अधिकार तथा सद्गुणरूपी सूर्यही सब पर समान भावसे प्रकाशित करता। सामान्य बातों में सब पर सदृश दया करनी चाहिए; परन्तु विशेष विशेष बातोंमें पात्रापात्रका विचार रखना उचित है। ईश्वरने आत्मप्रीतिको नमूना कल्पना किया है और जन प्रीतिको उस नमूनेके आधारपर बनाया हुआ चित्र

---

१ डाक्टरों और विद्वानों की बात जाने दीजिए, हमारे यहां की स्त्रियां और बालक भी तुलसी दासजीके इस दोहे को जानते हैं:—"तुलसी दया न छोड़िए, जब लगि घटमें प्रान"। परन्तु इटली के डाक्टर साहब इस बात को क्या जानै।

कल्पना किया है। अतः इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि औरोका चित्र खींचनेमें कही अपना नमूना न टूट जावै। इसका अभिप्राय यह है कि दूसरेका हित करनेमें अपनें हितकी ओर दुर्लक्ष्य न करना चाहिए। एक महात्मासे किसीने मोक्ष होनेका उपाय पूंछा। उसने कहा,–"जो कुछ तेरे पास हो, उसे बेंचकर दीनोंको देडाल, और मेरे साथ चल, परन्तु मेरे साथ चलनेको यदि तू पूर्णतया कटिबद्ध हो तभी ऐसा कर, नहीं तो कोई आवश्यकता नहीं; क्यों कि यदि तुझे यह विश्वास हो, कि विरक्त होकर भी तू उतनाहीं परोपकारकर सकैगा जितना, गृहस्थाश्रममें, धनकी सहायतासे करना सम्भव है, तभी तुझे निर्धनता स्वीकार करनी चाहिए। यदि तेरा निश्चय दृढ न होगा तो तू मानो प्रवाहको बहता बनाये रखने के लिए पानी देते देते पानी का सोतही सुखाडालैगा"।

मनुष्य मे, सदसद्विचार शक्तिही के कारण, सौजन्य और परोपकार बुद्धि नहीं उद्भूत होती। किसी किसी में ये सद्गुण स्वाभाविक होते हैं। जिस प्रकार किसी किसी में, ये गुण स्वभाव सिद्ध होते हैं उसी प्रकार किसी किसी में, इनके प्रतिकूल दुर्गुण भी स्वभाव सिद्ध होते हैं। दूसरे प्रकारके लोग स्वभावहींसे कुटिल होते हैं। कौटिल्य वृत्तिकी मात्रा कम होनेसे मनुष्य औरों का विरोध करने लगते हैं; उनके काममें विघ्न डालते हैं; हठ करते हैं; किसी का कहना नही मानते इत्यादि। परन्तु कौटिल्य वृत्तिकी मात्रा अधिक होनेसे वे स्पष्टतया मत्सर करने लगते हैं और हर प्रयत्न से औरौं को हानि पहुँचाते हैं, दूसरों को दुःखित देख, ऐसे मनुष्यों को आनन्द होताहै; इतनाहीं नही किन्तु दूसरे के दुःखको अधिक गरुवा करनेके लिए भी ये प्रयत्न करते हैं। अपने स्वामी के व्रण को जीभसे चाट कर उसे अच्छा करने की उत्सुकता व्यक्त करने वाले कूत्तों के जैसा भी

स्वभाव इन लोगो का नही होता। इनका स्वभाव मक्खियों का सा होताहै। व्रणको देखकर जैसे मक्खियों के झुंड के झुंड उसकी ओर चलते हैं, वैसेही आपत्ति में पड़ेहुए मनुष्य को देख, उसे उससे भी अधिक दुःखित करने के लिए ये लोग दौड़ धूप करना आरम्भ करते हैं। इसप्रकार के दुःशील लोग यह सब कुछ करैंगे, परन्तु यदि कोई इनसे यह कहै कि अपने वृक्षकी डालीमें फांसी लगाकर हमैं मरही जाने दो, तो टिमोन[1] के समान ये अपनी डालीभी किसीके उपयोगमे न आने देगे। ऐसे ऐसे स्वभाववाले मनुष्योंको उत्पन्न करना ब्रह्मदेव की भूलहै। तथापि राजकीय कामोंमें इस प्रकारके मनुष्य विशेष उपयोगी होते हैं। कोई कोई लकड़ी ऐसी होती है कि वह छतका भार नहीं सहनकर सकती इसलिए घरबनानेके काममें नहीं आती; परन्तु जहां समुद्र के गगनभेदी तरंगोके आघात सहन करना पड़तेहैं वहां—अर्थात् धूमपोत और नौकाओंमें उसी लकड़ीका प्रयोग होता है। यह उदाहरण दुष्ट प्रकृति लोगोंके लिए समान रीतिपर चारितार्थ हो सकता है।

सौजन्यके कई चिह्न हैं; उसके भेदभी कई हैं। यदि मनुष्य अपरिचित्तजनोंको कृपादृष्टिसे देखता है और उनका आदर सत्कार करता है, तो मानो समस्त भूमंडलको वह अपनाहीं देश और समस्त मानव जातिको अपनाही कुटुम्बी जानता है। अर्थात् जिस भांति भूमिसे एक आध भूमिका भाग पृथक् होकर द्वीप होजाता है, उस भांति वह अपना मन मानवजातिसे पृथक् नहीं समझता। दूसरोंको दुःखित देख यदि उसका हृदय दयार्द्र होजाता है तो उसको—काटने

---

१ एथन्स नगर में एक मनुष्य टिमोन नामी होगयाहै वह मनुष्य मात्र का द्वेष्टाथा। एक वार उसने यह घोषणादी कि, "मेरी वाटिका में एक गूलर का वृक्ष है, जिसकी डालों से लटक लटककर, आजतक अनेक लोगोंने प्राण त्याग किएहैं; अब मै उसे कटाना चाहताहूं, अतः जिसे मरना हो वह शीघ्रही वहां जाकर प्राणान्त करै"।

परभी सुगन्ध देने वाले चन्दन वृक्षके समान समझना चाहिए । यदि वह दूसरोंके अपराध सहजही क्षमा कर देता है तो वह यह सूचित करता है कि उसका मन अपकार ग्रहण करने की सीमाका अतिक्रमण करगया है। यदि अत्यल्प उपकारके लिए भी वह कृतज्ञता व्यक्त करता है, तो उससे यह विदित होता है कि वह मनुष्यकी मनोनिष्ठा देखता है उसके उपकारका परिमाण नहीं देखता। और सबसे अधिक यदि वह महात्मा सेन्टपालके समान, जन समुदायके हितार्थ अपना आत्मा भी अर्पण करने के लिए सिद्ध रहता है तो यह समझना चाहिए कि उसमें ऐश्वरीय अंश विशेष हैं, अंशही नहीं, किन्तु यों कहना चाहिए कि उसमें एक प्रकार का ऐश्वरीय सादृश्य है ।

इति ।

ऐतिहासिक नामों का सूचीपत्र ।